UNIVERSAL
LIBRARY

OU_182273

UNIVERSAL
LIBRARY

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. H81.6 | D585 Accession No. H2511

Author दिनकर, रामधारीसिंह |

Title सामधेनी | 1955

This book should be returned on or before the date last marked below.

सामधेनी

श्री रामधारी सिंह दिनकर

सोल एजेण्ट्स
श्रीअजन्ता प्रेस लिमिटेड
पटना–४

प्रकाशक
उदयाचल, पटना

मूल्य २॥)

[सर्वाधिकार लेखक के अधीन]

तृतीय संस्करण
१९५५ ई०

मुद्रक
श्रीराजेश्वर झा
श्रीअजन्ता प्रेस लिमिटेड, पटना-४

उस नयी आग को
जो संघटित होने की प्रक्रिया में
आज मुल्क के जर्रे-जर्रे में सुलग रही है

अनुक्रम

कविता के बारे में ९

पहला खंड : सूर्य-ग्रहण

नब्ज़ (१९६५) १७

संसद भवन (२६ सितम्बर, '६७) २७

भंगी कोलनी-१ (९ मई, '६८) ३२

भंगी कोलनी-२ (१६ मई, '७८) ३८

सूर्य-ग्रहण (अप्रैल '६८) ४१

शब्द (१९७०) ५७

बच्चा, बैलून और गोरैया (१९६७) ६६

डगर (१० दिसम्बर, '७२) ७०

इत्तफाक (१९७२) ७६

अकेले नहीं हूँ (१९७३) ८३

चवरी (२६ मई, '७३) ८५

गोबरधन (१७ अक्तूबर, '७३) ८९

एक नन्हीं जिन्दगी से वायदा (जुलाई, १९७५) ९३

कविता का जन्म (मई, १९७५) ९५

जोकर (२१ अक्तूबर, '७७) ९७

अपनी परिभाषा खोजते हुए (२ जून, '७०) १००

दूसरा खंड : एक सूरज मां के लिए

एक सूरज माँ के लिए (रजत जयन्ती सप्ताह '७२) १०५

थर (२९ अक्तूबर, '७६) १३७

गाँव (२७ सितम्बर, '७७) १४३

कविता के बारे में

मेरे घर के कोने में बाप-दादों के समय की एक तलवार पड़ी रहती थी। घर में वैसे और तलवारें भी थीं। हिफाजत से रखी हुई। मगर उस तलवार की तरह नहीं। वह तलवार ताकत नहीं, भय पैदा करती थी। और उसे गलती से ही कभी कोई छूता था। कोई, यानी जिसे कुछ समझ थी।

हम बच्चों की बात और थी। खेल-खेल में या उत्सुकता से कभी-कल उसे छू लिया करते थे। बड़ों की आँखें बचाकर। और मैदान खाली पाकर कभी-कभी उसे उठाने की भी कोशिश कर लेते थे। मगर वह उठती नहीं थी।

वह दोधारा थी। औसत से ज्यादा लम्बी-चौड़ी और भारी। धूप और शीत और वर्षा में यूं ही पड़ी रहती थी। मिट्टी से लग कर। और धीरे-धीरे मिट्टी में मिलती जा रही थी।

वह ग़दर की तलवार थी। बाप-दादों के खून के पक्का होने का सबूत। गदर में बाप-दादों ने बाबू कुँवरसिंह का साथ दिया था। बाबू कुँवरसिंह हमारी बिरादरी के थे। मगर उनका मोर्चा जिस बिरादरी के बल पर खड़ा था वह बिरादरी हमारी उस बिरादरी से बहुत बड़ी थी। वैसे गदर के समय हमारी वह बिरादरी छोटे-बड़े दो टुकड़ों में

बँट गयी थी। छोटे टुकड़े के लोग कुँवरसिंह के विरुद्ध अंग्रेजों से जा मिले थे। और बड़े टुकड़े के लोग कुँवरसिंह के साथ मर-जी रहे थे।

गदर ने हमें धन-जन समेत बर्बाद कर दिया था। वह तलवार मेरे घर वालों के अन्दर भय पैदा करती थी कि हम बर्बाद हो गए थे, मगर बर्बादी को स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं थे।

बहुत दिनों तक हम उसके भय की बधिर चट्टान के नीचे दबे रहे। सन् '४२ के पहुँचने तक। तब तक गदर की वह तलवार टुकड़े-टुकड़े होकर मिट्टी में मिल गयी थी। '४२ में अपनी धरती को अपना खून देने के लिए अन्य साथियों के साथ मैं भी आगे आ गया था। और घर वालों में से किसी ने कोई प्रतिवाद-प्रतिरोध नहीं किया था।

उन्हें पता नहीं था कि वे समय के एक बहुत बड़े और गहरे अन्तराल को पार कर चुके हैं। और अनजाने ही सही, मगर उन्होंने अपने इतिहास के फैसले को मंजूर कर लिया है।

▣

इतिहास के साथ होना भी खुद इतिहास होना है। तब वहाँ गाँव के उस कोने में, अन्धकार से लगातार जूझते हुए, मैं अपने मुल्क को देखने-समझने की कोशिश में था, और इस कोशिश में खुद पूरा-का-पूरा मुल्क होता जा रहा था। मुल्क मुझमें, और मैं मुल्क में जन्मने लगा था। बाद, जो शेष विश्व से—खासकर उसके संघर्षशील तबके से मेरा परिचय हुआ, और वह परिचय प्रगाढ़ आत्मीयता में बदल कर धीरे-धीरे अपना अर्थ-प्रसार करता गया, वह सब मुल्क से मेरे सीधे और सबल सम्बन्ध के कारण था। मुल्क का हाथ पकड़ कर मैंने अपनी चेतना की गहराई में यह महसूस किया कि हाथ जितना दिखते हैं उससे कहीं अधिक बड़े और शक्तिशाली होते हैं, और उनमें, दुर्लंघ्य बाधाओं के बावजूद, मनुष्य की नियति को निर्धारित करने की एक अद्भुत क्षमता है। मुल्क से मेरे—और मेरी चेतना के द्वन्द्वात्मक सम्बन्ध के विकास की दिशा मेरी कविता के संघर्ष की दिशा है। उसे अपने वक्त और अवाम से अलग करके नहीं देखा-समझा जा सकता।

मैंने कविता को जो चुना, वह इसलिए नहीं कि बहुत अच्छी और बहुत महत्त्वपूर्ण कविताएँ लिखकर बड़ा नाम कमाऊँगा, और सुख-चैन से रहूँगा। उस तरह की कविता मेरे जेहन में कभी नहीं थी। कविता से मेरा सरोकार बिलकुल अलग किस्म का था। वह मेरे सुकून नहीं, बल्कि आजीवन तबाही और बर्बादी का बायस बनी रही। यह दूसरी बात है कि मैं उस तबाही और

बर्बादी को ही अपने जीवन का 'परम फल' मानकर चलता रहा हूँ, और उससे मेरा सरोकार दिन-पर-दिन गाढ़ा होता गया है।

जबकि ऐसा अमूमन नहीं होता। नहीं होता इसलिए कि कविता की आम दिशा वैसी नहीं होती—कविता मनुष्य की नियति से कट कर चलने लगती है, और उसके पीछे खड़ा रचनाकार अपने समय के केन्द्रीय प्रवाह से कट कर और पीछे छूट जाता है, और फिर जो वह कवि-लोक की सृष्टि करने में लगा रहता है वह उसके कौमी जीवन के व्यापक संघर्ष के पहाड़ी दौर में उभरते गये नये यथार्थ से मेल नहीं खाने के कारण अप्रासंगिक और झूठा पड़ जाता है। फिर, खुद रचनाकार अपने सामाजिक-सांस्कृतिक परिदृश्य में अपने जाने जिस महत्त्वपूर्ण भूमिका को लेकर उतरता है वह भूमिका इतिहास की दृष्टि में कोई अर्थ नहीं रखती।

□

जो कुछ भी इतिहास की परिधि के बाहर है, कम-से-कम मनुष्य के सन्दर्भ में, हमारे लिये अर्थहीन है। हम इतिहास को पकड़ कर आगे बढ़ते हैं, और इतिहास अपनी विकास-प्रक्रिया में, हमारे कार्य-कलापों, उन कार्य-कलापों के माध्यम से हासिल अनुभवों, और कौमी संघर्ष के कुछ निर्णायक क्षणों के मुहर-बन्द दस्तावेजों के वजन पर मंजिल-दर-मंजिल तय करते हुए अपनी शक्ल और शख्सीयत ग्रहण करता है—हमसे हमारी बात बोलते हुए अपनी बात भी बोलता जाता है, जिसे कभी हम सुनते हैं और कभी सुनने के लिए तैयार नहीं होते। फिर, हमसे निरन्तर चल रहा उसका संवाद वैसे खास-खास बिन्दुओं पर टूट जाता है, और उसमें एक रिक्तता पैदा हो जाती है। यह रिक्तता हमारे लिए, अपने समय के निर्माण में, एक असाधारण स्थिति और समस्या उत्पन्न करती है जो आम आदमी और आम रचनाकार के लिए कोई खास बात नहीं होती, मगर एक संघर्षधर्मी रचनाकार के ज़मीर के लिए बहुत बड़ी चुनौती हो जाती है। उस स्थिति में प्रश्न जितना किसी रचना के कलात्मक और अद्वितीय होने का ही नहीं होता उससे अधिक, एक बहुत ही जोखमभरे फासले को, क्षत-विक्षत होकर ही सही, तय कर समय के निर्माण में अपना अपेक्षित योगदान करने का होता है, और तब वैसी रचना अपनी साधारणता में भी एक असाधारण चरित्र धारण कर लेती है।

□

कलात्मक चित्रण का द्वन्द्वात्मक चरित्र स्वयं जीवन और उसके निर्णायक संघर्ष के द्वन्द्व की अभिव्यक्ति होता है। रचना, रचना-स्तर पर रचनाकार

विशेष का वैयक्तिक प्रयास होते हुए भी अनुभव, चिन्तन और कार्य के स्तर पर वैयक्तिक नहीं रह जाती; उसकी भीतरी जरूरतें उसे एक कौमी नस्ल अख्तियार करने पर मजबूर करती हैं, और तब वह अपने द्वन्द्वात्मक चरित्र को लेकर बनने-बिगड़ने लगती है। यही उसकी अपरिहार्यता है, और उसे उसकी इसी अपरिहार्यता की दृष्टि से समझा जाना चाहिए। जन-जीवन का सीमाहीन संसार वैयक्तिक अनुभूति की सीमा में नहीं आ पाता। उसे समेटने या प्रक्षेपित करने के लिए रचनाकार को अनिवार्य रूप से समय के साथ और बीच होकर चलना पड़ता है। और जन-साधारण के सामान्य मगर विराट जीवन स्तर पर प्राप्त अनुभव का अर्थ-संसार अपने आप में विराट और विलक्षण होता है। जरूरत उसे उसकी सम्पूर्णता में ग्रहण करने की होती है जिसके लिए रचनाकार को (अपने समय के प्रति) समर्पण और संघर्ष—दोनों ही की भूमिका में उतरना पड़ता है।

ये भूमिकायें उसकी अन्तर्दृष्टि को और तेज करती हैं जिससे वह अपने समय की व्यक्त सीमाओं का अतिक्रमण कर उसकी अव्यक्त और अलक्षित वस्तु-स्थितियों से भी जिन्दा साक्षात्कार करता है, और सामने जो एक ऐतिहासिक अपरिहार्यता खड़ी रहती है उससे, व्यापक जन-संघर्ष में लिये गये निर्णयों के परिपेक्ष्य में, एक दृढ़ और गतिशील रूहानी सम्बन्ध कायम करता है। उस हालत में, वह जो उसके रचना-संघर्ष का चरम उपलब्ध होता है, और कुछ नहीं उसी अपरिहार्य का इच्छित, निर्धारित और उपलब्ध रूप होता है। नये सौन्दर्यानुभव और उस सौन्दर्यानुभव पर आधारित सौन्दर्य-सृष्टि की सप्राणता को उस रचना-प्रक्रिया के बीच से गुजरते हुए देखा और अनुभव किया जा सकता है जो रचनाकार के रचना-संघर्ष—अन्तर्वस्तु के विस्तार और संघटन की क्रिया को रूपायित करती है।

□

काव्य-विश्लेषण के आधुनिक सिद्धान्त को विकसित करने के उपक्रम में सौन्दर्यशास्त्रियों ने अन्य बातों के अतिरिक्त इतिहासवाद का प्रसंग भी उठाया है। इतिहासवाद मोटे तौर पर इतिहास का दर्शन या विज्ञान है। उसे जाग्रत और निरंतर संघटित होती हुई ऐतिहासिक चेतना के रूप में भी लिया जा सकता है। फिर, इस प्रश्नको जब कविताके आलोचक उठाते हैं, तो उनका आशय सिर्फ यह रहता है कि कविता को ऐतिहासिक दस्तावेज से थोड़ा भिन्न और ऊपर करके देखा जाय। यहाँ निश्चित रूप से कविता में ऐतिहासिक तत्त्वों का निषेध नहीं है, बल कविता के अन्य पक्षों पर भी दिया गया है। मसलन, उसके प्रक्षेप

और आन्तरिक मूल्यों पर। कठिनाई फिर यहीं पैदा होती है। कविता को ऐतिहासिक दस्तावेज के रूप में देखते वक्त बल ज्यादातर सामाजिक ऐतिहासिक पक्ष पर दिया जाता है, उसके मूल्य निर्धारण का प्रश्न उपेक्षित रह जाता है। या बर्खास्त कर दिया जाता है। और फिर इस तरह का यह पूरा प्रयास एक तरह से मूल्यों की अराजकता के रूप में पेश आने के कारण झूठा पड़ जाता है यह एक संकट है, दोहरा संकट। रचनाकार रचना को इतिहास के रूप में पेश करने लगे, या आलोचक रचना से ठस ऐतिहासिकता की मांग करने लगे। दोनों ही स्थितियों में रचना को संप्रेषण के संकट से जूझना पड़ता है। कविता अपने में इतिहास लिए चलती है, खुद इतिहास नहीं होती। जब हम कविता को इतिहास कहते हैं, हमारा तात्पर्य यही होता है कि इतिहास अपने विकास-क्रम में जिस 'सम्भव' का पोषण करता चलता है—जिन मूल्यों को हमारे कौमी संस्कार में ढालता जाता है, कविता उसी 'सम्भव', और उससे जुड़े मूल्यों की संवाहिका होती है। और इस कार्य में—नए और जरूरी को प्रक्षेपित करने की प्रक्रिया में उसे अपने वक्त की भाषा की सांस्कृतिक सीमाओं को भी तोड़ना पड़ता है।

यहाँ पर भाषा और अर्थ-ग्रहण (perception) का प्रश्न खड़ा होता है। चेतना की द्वन्द्वात्मकता रचनाकार के 'स्व' और समाज की उस संरचना के बीच एक गतिशील सम्बन्ध स्थापित करती है जो रचनाकार पर कई तरह के प्रतिबन्ध लादती चलती है। इसी प्रकार का गतिशील सम्बन्ध फिर रचनाकार विशेष की काव्यात्मक अभिव्यक्ति और उस समय समाज में प्रचलित भाषा-पद्धति या संस्कृति के बीच भी होता है। काव्य-शास्त्रीय और भाषाशास्त्रीय—दोनों ही प्रकार के अध्ययनों के सामने यह एक जटिल मगर महत्वपूर्ण प्रश्न है, और इसकी सबसे बड़ी सम्भावना इस बात में निहित है कि किसी रचना के अध्ययन-विश्लेषण के बल पर हम रचनाकार के समय और समाज का विश्लेषण कर सकते हैं—दोनों के बीच के गतिशील सम्बन्ध और द्वन्द्वात्मक योग-प्रतियोग को ऐतिहासिक संघटना में तब्दील करके अपने इतिहास के अपरिहार्य को पकड़ने के लिए एक ठोस जमीन तैयार कर सकते हैं। कविता न केवल सामाजिक सांस्कृतिक कारणों के प्रभाव-रूप में सामने आती है, बल्कि सामाजिक-सांस्कृतिक प्रभावों के मूल में कारण-रूप में भी सक्रिय रहती है, और इसीलिए मात्र कुछ शब्दों पर खड़ी एक रचनामात्र नहीं होकर कौमी जीवन के अजस्र शक्ति-स्रोत के रूप में जिन्दा मिलती है।

□

कविता अपने इसी रूप में मेरे सामने खड़ी है। और मैं भावुक होने की हद तक उससे जुड़ा हूँ। उसके प्रति मेरा समर्पण अपने लहू के पूरे ताप और

वेग के साथ—अपनी चेतना के सम्पूर्ण वृत्त के साथ समर्पण है, और यह एक ऐसा समर्पण है जिसमें बहुत बड़ी शक्ति और गति है—रचनात्मक क्षमता का विकास यहाँ निरन्तर होता रहता है। इसीलिये मैं इस भावुकता का विरोध नहीं करता, उल्टे भावुकता का गैरवाजिब ढंग से विरोध करने वालों का विरोध करता हूँ। भावुकता, जो वह साथ ही ग्रहणशील और निर्णय-क्षमता से सम्पन्न भी हो, आदमी को—वह चाहे जिस भूमिका में हो—जिन्दा रखने के लिए बहुत जरूरी है। सवाल, स्थिति विशेष में उसके सही सूत्रों—अन्तर्वस्तु के सामाजिक-राजनीतिक समीकरणों के जरूरी अन्तर्कार्यों से जुड़े चलने का है। एक हलवाहे या चरवाहे को ले लीजिये, या किसी मजदूर को ही लीजिये, और फिर, रचनाकार के रूप में, उसके जजबात को छूने की कोशिश कीजिये। उसके जज़बात को छूना ही उसको—उसकी ठंडी पड़ी या रक्ताल हकीकत को छूना है। बिना ऐसा किए आप उसे अपनी रचना का केन्द्रीय विषय नहीं बना सकते। इस प्रक्रिया में फिर ऐसा भी हो सकता है कि आपका यह छूना, कुछ बहुत ही विषम और दारुण परिस्थितियों में, हक़ीकत के साथ एक मजाक, अधिक-से-अधिक एक हरकत बनकर रह जाय। हो यह भी सकता है कि यह छूना आपकी रचना को प्राणवान बनाने में बहुत जरूरी सिद्ध हो। फर्क छूने के स्थिति-भेद को लेकर पड़ता है—इस बात से पड़ता है कि कौन रचनाकार कहाँ खड़ा होकर किस मानसिकता से यहाँ छूने का काम करता है। फर्क अलग से खड़ा होकर या उसके साथ तन-मन से जुड़कर किसी वस्तु या पात्र की जानकारी लेने में पड़ता है। आपको अपने विषय से आत्मीय होना है। गलत वहाँ होता है जहाँ आप अपनी स्थिति विशेष या स्वभाव-संस्कार के कारण पूरा आत्मीय होने का दावा करके भी बस अकादमिक बनकर रह जाते हैं। आत्मीय होने का अर्थ विषय से उसकी सम्पूर्णता में जिन्दा सम्बन्ध या साक्षात्कार है। जब आप अपने विषय से जुड़ते हैं, आपका अपना 'खुद' दब जाता है, और आप अपने विषय के लिए एक 'माध्यम' भर रह जाते हैं। फिर, सवाल यह उठता है कि 'माध्यम' के रूप में आप कितना विश्वसनीय होते हैं, अपने विषय के पूरे भार को उठा पाते हैं, या अपनी कमजोरी के कारण उसके नीचे दबे रह जाते हैं। यहाँ आपका स्वभाव-संस्कार काम करता है, आपका संकल्प आपको बल देता है, और यह सब एक दिन का काम नहीं है। अब लीजिये 'चवरी' को, 'गाँव' को लीजिये, या फिर वियतनाम युद्ध के सन्दर्भ में 'तृतीय अंक' या 'कविता का जन्म' को लीजिये। इनकी रचना मैंने विषय के भौगोलिक स्थान से अलग रह कर ही की है, मगर एक खास बात यह है कि ये विषय, ये रचना-स्थितियाँ मेरे जेहन में समायी रहती हैं, अलग रहकर भी मैं इन्हें अपने में पूरा-का-पूरा लिए रहता हूँ।

और यह काम किसी क्षण-विशेष का नहीं बल्कि जिन्दगी भर का एक ठोस रिश्ता है। इसे आप इन कांडों या घटनाओं का विवरण पढ़कर नहीं कर सकते। यहाँ आपके लिये जो भावुकता है वह मेरे जीवन-भर की आग है, एक जलती-दहकती हकीकत। और इसलिए कि अभिव्यक्ति के स्तर पर सिर्फ एक क्षण की क्रिया है—सांस लेने की तरह सहज क्रिया, आप इसे स्वतः स्फूर्त नहीं कह सकते। इसके पीछे आजीवन जीने-मरने या सहभागिता का पूरा-का-पूरा एक सिलसिला—एक हिसाब है।

यह सिलसिला—यह हिसाब रचना-संघर्ष के मूल में शक्ति-स्रोत बन कर खड़ा रहता है। मुक्तिबोध के सामने सम्प्रेषण का जो सवाल रहा है, और जिस सवाल से आजीवन जूझते हुए अन्त तक वे दुरूह ही बने रह जाते हैं, वह एक प्रक्रियागत संघर्ष का सवाल है। वहाँ काव्य-भाषा अपने तमाम अर्थ स्रोतों को समेट कर नये मिजाज और रूप में पेश आने की कोशिश में है। इसी तरह की मगर कुछ भिन्न स्तर पर एक कोशिश 'एक सूरज माँ के लिये' और 'थर' आदि में, विजेन्द्र की 'जन-शक्ति', और अन्य रचनाकारों की इधर की कई-कई रचनाओं में देखी जा सकती है। यहाँ सम्पूर्ण रचना-प्रक्रिया एक पूरी कोशिश है—जानदार कोशिश, जो रचना को उसके मुकम्मिल रूप और ऊर्जा-विस्फोट से प्राणवान करने की कोशिश है। इतनी बड़ी इस कोशिश को दुनिया भर की सिद्धान्त-पुस्तकों को सिर्फ पढ़कर आलोचना की टकसाली भाषा में समझा-समझाया नहीं जा सकता। बुनियादी जरूरत इस बात को लेकर खड़ी होती है कि पहले इन रचनाओं—इनके पीछे खड़ी जद्दोजहद को पढ़ा-समझा जाय, और उस रचना-संकल्प को सामने रखा जाय जिससे रचनाकार का रचना-संघर्ष अनुशासित होकर अपने लक्ष्य की ओर लगातार बढ़ता रहता है।

□

सन्'५७ से आज इस क्षण के बीच का फासला कितना लम्बा है! मगर अचरज इस बात को लेकर है कि इतना लम्बा यह फासला गदर की उस तलवार की चमक को अभी पचा नहीं सका है। गदर की वह तलवार आज भी रह-रह कर मेरी चेतना में चमक उठती है। और जबकि जानता हूँ, कविता लिखने के लिए तलवार या बन्दूक की नहीं बल्कि कलम की जरूरत पड़ती है, जब-जब कलम उठाता हूँ वह मेरे हाथ से खिसकती हुई प्रतीत होती है।

ये कविताएँ खुद अपनी शक्ल और शख्सीयत के विरुद्ध खड़ी हैं कि हमारा संघर्ष अभी अधूरा है—अधूरा ही है, यह नहीं कहता कि नाकाम भी है।

६ जून, १९७९ **कुमारेन्द्र पारसनाथ सिंह**

खंड : एक

सूर्य-ग्रहण

नब्ज

●

कहते हैं,
अपना देश बहुत खूबसूरत है ।
उसका ज़र्रा-ज़र्रा अपने बुलन्द हौसलों से रौशन—
जवान है।

उसका हर कण पौरुष का हिमालय है, जिससे गंगा
निकलती है । और वह जहाँ मुड़ती है, वहाँ या तो त्रिवेणी है
या काशी है । वहाँ कोई हिन्दू नहीं---मुसलमान नही है ।
पारसी और ईसाई नहीं है । (सिख नहीं है ।)

ये सभी कौमें या तो जाकर कहीं मिल गई हैं या मिट गयी हैं ।
आज वहां सिर्फ शहीदों की एक क़ौम बच गई है ।

कभी यहाँ-वहाँ कुछ बर्फानी घाटियाँ थीं—पठार का धीरज लिये
बियाबान और रेतीली बस्तियाँ थीं । उनके सीमांतों पर जगने
वाली लौ
मुस्काने के पहले ही गुल हो जाती थी । और वहाँ आसमान की आँखें
हरियाली और फूल देखने के लिये तड़पती रह जाती थीं···

मगर, वहाँ आज हमारे जवानों ने अपने खून से सींचकर
कुछ बिरवे लगा लिये हैं जिन पर शहादत के फूल खिले
रहते हैं । और वे घाटियाँ और बस्तियाँ उनकी खुश-बू से दिन-रात
गमकती रहती हैं·····युद्ध की ज्वालाओं से घिरी होने पर भी
वहाँ अमन के चिराग की रोशनी कभी मद्धिम नहीं पड़ती ।
तिरंगे के नीचे

पूजा, नमाज़, और प्रार्थना—सभी चुप हैं।
अविजित और 'एक' बने रहने का संकल्प गहरे मौन से
टकराता रहता है।
(आदमी अपना खोया हुआ अर्थ पाने में लगा है।)

सुहाग की रात—
शरमाती हुई दुल्हन से भी
हसीन लगने वाली कुलू-कश्मीर की सुरम्य घाटियाँ हैं,
जिनकी आँखों में/कम्पित अधरों के समान
बिना बोले बोल जाने वाले अनेक-अनेक सपने तैरते रहते हैं···
और फलों से झुकी हुई जिनकी डालियों पर
थक कर जरा बिलम गयी शबनम के सामने
बड़ी-बड़ी गाथाएँ हैरान रह जाती हैं···
महाबलिपुरम् और कन्याकुमारी को लहरें हैं—
मिलते-मिलते बिछुड़ गये हृदय की अशान्ति की तरह—
जो यूनान और मिस्र और जावा और बाली और चीन के तटों
को छूकर
आने वाली लहरों से बेभरम होकर मिलती रहती हैं···
नर्मदा और ताप्ती, और गोदावरी-कृष्णा-कावेरी की धारायें हैं –
खुले मातृत्व की तरह—
जो आसमान को भी बाँहों में समेट लेने में
गंगा-यमुना और सिन्धु-ब्रह्मपुत्र से पीछे नही रहतीं···
हल्दीघाटी है—
स्वतंत्रता के प्रतिज्ञा-पत्र पर एक अमिट हस्ताक्षर की तरह
जगी पड़ी···
और वहीं बोधि वृक्ष भी है—वैशाली है—नदिया है···

कौन कहता है
कि हमारी धरती वही नहीं है—
हमारा आसमान वही नहीं है—
हमारे स्वप्न, संकल्प, और मंत्र वे ही नहीं हैं!
लगता तो है
कि सब वही-का-वही है!

कहते हैं,
हमारा देश कभी बहुत सुखी-संपन्न था—
दुनिया की आँखों में सोने की चिड़िया था !
और संपन्न वह आज भी क्या कम है !
भूमि वही है—सोना उगलती है ।
नदियाँ मैदानों में जा-जाकर अन्न बाँटती रहती हैं ।

आसमान कभी आँखें नहीं मूँदता—तत्परता से
मेघों को जोहता रहता है !
सूखे और पाले का हरियाली के सामने कोई वश नहीं चलता ।
आज भी,
हमारे खजाने की कुंजी
कुबेर के हाथ है ।—और यह
सच से भी कहीं ज्यादा सच है
कि उनकी दियानत के साये में अरबों का सोना गड़ा पड़ा है—
हीरे और मोती के ढेर हैं ।

इसीलिये,
जब कहते हैं—
बंगाल में कभी अकाल पड़ा था,
और लाखों लोग
कुत्तों और सियारों,
और गिद्धों और कौवों की मर्जी पर
रास्तों-चौराहों-फुटपाथों पर सोये पड़े थे—
सहसा विश्वास कर लेते नहीं बनता ।
यह यक़ीन नहीं होता
कि केरल में भूख से आतुर और क्षुब्ध लोगों ने
अन्न के गोदामों पर धावा बोला होगा—
या दिल्ली, बम्बई, कलकत्ता और मद्रास जैसे नगरों की फुटपाथों पर
रात में, भूखे-नंगे लोगों की बेपनाह बस्तियाँ फैल जाती होंगी—
या,
यहाँ-वहाँ तंग दरबों में

कई-कई लोग
कबूतरों से भी बदतर हालत मे
घुट-घुट कर मरते होंगे ।

इस बात पर यकीन कर लेने में कितना दर्द होता है
कि हमारे बीच दालमंडी और सोनागाछी
आज भी गुलजार रहती हैं ।
और सभ्यता के नाम पर
जो होटल और नाइट-क्लब रात-रात भर जगे रहते हैं,
वहाँ सोना
आदमी को खुश-बू और शराब में डुबा कर
कुछ और ही रूप दे देता है !

जहाँ
इतने-इतने फौलादी हाथ
और आला दिमाग
देश का नक्शा बदलने में लगे हों,
वहाँ
एक गरीबी और पर-आसरे का नक्शा नहीं बदले !

मैंने
अपने देश की समृद्धि और सुरुचि-संपन्नता से
इस गरीबी और तंगहाली का मेल बैठाने में
कई-कई रातें काट दी हैं,
और मुझे कोई रास्ता नहीं मिला है ।

कहते हैं—
(और मेरी आँखें भी देखती हैं—)

हमारा देश भूखा है, नंगा है ।
उसकी स्वतंत्रता को
औरों की सहानुभूति और सहायता की जरूरत है,
तो लगता है

कि हमारी भाषा भी नंगी हो गयी है,
और बेअख्तियारी में
हमने उसकी ज़बान काट डाली है।
—फिर, कोई कुछ भी कह सकता है,
और वह 'कुछ भी'
और कुछ हो या न हो,
मगर झूठ नहीं हो सकता।

(खुदकुशी पर उतारू व्यक्ति के ठीक सिर पर बत्ती जलती रहती है,
और उसे लगता है कि वह अंधकार के दरिया में डूबा जा रहा है।)

मुझे अपने देश से प्यार है।
और मेरा हौसला
उसकी आँखों में नूर बन कर चमकते रहने का है।

मगर,
कुछ और भी हैं जो वतनपरस्ती (?) के जोश में
गर्द उड़ाये रहते हैं,
और मेरे जैसे हजार-हजार नम-आँख लोग
उसी गर्द के नीचे
दम तोड़ते रहते हैं।
और देश—

एक अन्धकार का जाल काट लेने के बाद
फिर दूसरे अन्धकार के 'टापे' में पड़ जाता है।
सूरज उन लोगों के लिये चमकता है
जिनकी आँखों की रौशनी गयी नहीं रहती है।

(२)

मैं अपनी ही ज़मीन पर बेगाना बन कर घूमता रह जाता हूँ।
रात ढलने लगती है
तो आ कर अपने कमरे में कैद हो जाता हूँ।
यहाँ-वहाँ
बीवी-बच्चे सब सोये रहते हैं।

और मेरे लिये कहीं कोई नहीं होता।
कहीं दूर
कोई शोर
ऊंघता-सा लगता है।
पास की कोई आवाज सपनाने लगती है।
मेरे और मेरी बीवी के बीच
एक गहरी खामोशी
आ कर लेट जाती है।
मेरे लिये यह स्थिति बिलकुल असह्य हो जाती है···

और ऐसी असह्य—घोर यंत्रणा की स्थितियाँ
कई-कई होती हैं।
मैं घबड़ा कर चीखना-चिल्लाना चाहता हूँ
कि कोई आकर
मुंह पर
हाथ रख देता है।
टटोलता हूँ
तो वहां कोई नहीं, वही अन्धकार होता है
जो जब कभी आत्मीयता का दावा करता है,
बदल कर 'सूनापन' हो गया रहता है।
(मेरे अन्दर उठे कई-कई प्रश्न
उस सूनेपन की चट्टान से टकरा कर
चूर-चूर हो जाते हैं।

फिर,
मैं कमरे से बाहर निकल गया रहता हूँ :

धरती पर खड़े-खड़े सारा-का-सारा आसमान
समेट लेना चाहता हूँ
तो बाँहों में
कभी सड़क किनारे खड़ा यह लैम्प पोस्ट
तो कभी वह दरख्त आ जाता है।
—उस वक्त मुझे हँसी आती है।

और फिर, वहाँ भी
और कोई नहीं, वही सूनापन
मुझे
ठगा-ठगा-सा देखता रहता है।

इसी तरह,
देर-देर तक अन्धकार से भी जूझना पड़ता है।
कभी वह हार जाता है,
और कभी मुझे हारना पड़ता है।

और कभी-कभी,
सूरज बीच ही में उग आता है—
और मेरी आँखों के सामने
अणु-विस्फोट के तुरत बाद के
हिरोशिमा और नागासाकी का चित्र खड़ा रहता है···
या कभी कहीं कोई चूल्हा होता है—धुएँ में ओझल होता हुआ,
और उससे जरा हटकर अलग बैठे हुए कुछ बच्चे
उसे टकटकी लगाकर देखते रहते हैं···
या कभी किसी शिशु के रोने की आवाज सुनायी पड़ती है,
और चौंककर देखता हूँ
तो आँख
अस्थि-शेष किसी औरत पर पड़ती है—
गिद्ध
जिसकी आँखें छोड़े रहते हैं,
और उसकी अँतड़ी खींचने में लगे रहते हैं···

या कभी कुछ बूचड़
मिमियाती बकरियों,
और रम्भाना भूल गयी गायों के झुंड को
घेरकर
'स्लाटर हाउस' की ओर बढ़ते रहते हैं—
(और उनके चेहरे पर ऐसा-वैसा कोई भाव नहीं रहता)
या कभी कोई और ही चीख

चेतना को चीरकर निकल जाती है ।
मुड़ता हूँ
तो सामने कोई लड़की पड़ती है,
जिसे छोडकर
कुछ लोग
अभी-अभी
भाग गये रहते हैं·····और वह,
अपने कपड़े पर लगे खून के ताजे दाग छिपा सकने में असहाय,
मुँह हाथों में छिपाकर
वहीं
औंधी पड़ी रहती है·····
एक ही हकीकत कई-कई सूरतों में प्रकट होती है ।
मुझे
कई-कई जिन्दगी जीने
और कई-कई मौतें मरने के लिये
विवश करती हुई ।
और मैं यह भुला देना चाहता हूँ,

कि मेरा अपना कोई जन्म-स्थान है ।
और उस स्थान पर खड़ा कोई घर
मेरे इंतजार में,
साँस रोके,
मेरे रास्ते की ओर टकटकी लगाये रहता है···

खास कर तब,
जब मेरे पाँव के नीचे की धरती खिसक गयी रहती है,
और आसमान
बड़ी बेरहमी से
मेरे ऊपर अपना सारा-का-सारा बोझ छोड़ दिये रहता है···
(शिथिल होती हुई मेरी चेतना से
सिर्फ उसका अट्टहास टकराता रहता है···)

उस समय मेरे लिये अपना कोई देश नहीं होता ।

तब तक,
मेरे गाल पर
खूब खींचकर कोई तमाचा जड़ देता है।
और मैं
स्वप्न-सी स्थिति से सहसा बाहर आ गया रहता हूँ
देश की मिट्टी
मुट्ठी में होती है,
जिसे बार-बार चूमता हूँ—
और आँसू से तर करता रहता हूँ।
और देखता हूँ
कि वहाँ अकेले मैं ही नहीं,
लाखों और भी हैं,
मगर जिनकी धमनियाँ बेमौके सर्द पड़ गयी हैं···
(और इसीलिये,
वे सब उसके सामने
आज शर्म-से सिर झुकाये
खड़े हैं!)

एक बेपनाह आवाज—
मेरी चेतना की सुनसान गलियों में—
यहाँ से वहाँ तक भटकती रहती है···
मेरी जान खाने पर पड़ी है,
और मैं उससे पीछा छुड़ाकर कहीं भाग जाना चाहता हूँ—
कहीं भी!
और कहीं भी मुझे कोई अपना नहीं मिलता!
जो परिचित हैं वे भी अपरिचित की तरह
घूरने लगते हैं···
उनकी आँखों से
कई-कई प्रश्न
तीर की तरह छूटकर
मुझे बेध देते हैं—

जबकि मेरे लिये सबसे बड़ी मुसीबत यह है
कि मैं डूबते हुए नहीं,
हमेशा उगते हुए सूरज को देखता हूँ···
अन्धकार में
गर्क़
हुआ जाता हूँ,
फिर भी
(एक दिन)
उसके सर पर पाँव धर कर चलने का
हौसला रखता हूँ।

संसद भवन

●

फूलों से थोड़ा कम मुलायम देह,
डनलोपिलो सी-सर्द !

गर्म आँखें होती हैं जो सिर्फ देखती हैं ।
और होठ भी जो कई-कई जज़्बात ठके रहते हैं ।
उन्हें कितना चूमू
कि हड्डियों की भूख जरा कम हो ?

(बाँहों में उभरता हुआ दर्द अब
तुम्हें सिर्फ समेट लेने से नहीं जाता !)
जी आसमान को समेटने का होता है ।
उसकी नग्नता
तुम्हारी नग्नता से कहीं ज्यादा साफ है ।

वस्त्रों की जगह तुमने जो ये इच्छायें पहन रखी हैं,
तुम्हारे विज्ञापन के लिये की गयी रंगीन रोशनियों में
खोयी रहती हैं ।
दुःख है कि बिक कर भी
बाजार में ही पड़ी रहती हो !

(२)

यह बाजार ही क्या तुम्हारी अन्तिम नियति है ?

(३)

लोग हाथों में खाली पिंजर लेकर आते हैं—सोने के,
चाँदी के, और लोहे के भी ।

और अपने हौसलों से
आसमान का विस्तार नापने के लिये अपने पंखों को आजमाते हुए
कई-कई पंछी
मेरी आँखों के सामने बिकते
या नीलाम होते रहते हैं।
और दूरी कहीं
एक महल है जहाँ रोशनी में भी अन्धकार हुआ रहता है।
वहाँ उन पंछियों को रोशनी से डरने और अन्धेरे में
चरने-चुगने का अभ्यास कराया जाता है।
सुना है,
वे देह के सभी व्यापार भूल गये हैं,
और सिर्फ चरना-चुगना जानते हैं।
और चूँकि अन्न-जल पर चलना
पुराना और अवैज्ञानिक पड़ गया है
अब हवा और सोने पर जीने का प्रशिक्षण ले रहे हैं।

अकाल अन्नाभाव से होता है।
जल से संक्रामक रोग फैलते हैं,
या बहुत जल होने से बाढ़ आ जाती है।
हवा और सोने का अभाव कभी नहीं होता।
अकाल या दुकाल को अब बहुत आसानी से मिटाया जा सकता है।

(४)

मगर मेरी तबाही अपनी मैना को लेकर है।
वह सोना खाती नहीं, उगल देती है,
और हवा को आते देखकर नाक बन्द कर लेती है।
मैं उससे कितना प्यार करता हूँ!
मगर उसे सबसे ज्यादा नफरत मुझसे है।
उसकी धारणा है
कि मनुष्य ने समस्त वायु मंडल को विषाक्त कर दिया है।
वह जल में डुब्बी लगाने का अभ्यास करना चाहती है,
और कहती है सोने-चाँदी का पिंजरा बेकार है।

(५)

मेरे घर के लोग भी अन्न खोजते हैं,
जल के लिये हाय-तोबा मचाये रहते हैं।
वैसे, सोना-चाँदी के मोह से वे भी मुक्त नहीं हैं।
उन्होंने हवा पर जीने से इन्कार कर दिया है,
और इस बात के विरोध में
मुझ पर
आमरण अनशन करने की धमकी
त्याग दी है।

(६)

डरता हूँ, कहीं सामूहिक हत्या के जुर्म में न पकड़ लिया जाऊँ ?
मुझसे बहुत बड़ी गलती हुई
कि उन्हें सरकारी हुक्म पर अमल करना नहीं सिखाया।

(७)

मैना अब बिलकुल चुप रहती है।
देर-देर तक सामने खड़ा रहता हूँ,
और वह आँखें भी नहीं उठाती।
सोचता हूँ, किसका गला घोंट दूँ
कि इस मौन या कि मौत से निज़ात मिल जाय।

(अपना गला घोंटने के लिये मैं हर्गिज़ तैयार नही हूँ !)

(८)

बार-बार मैं तुम्हारी ओर देखता हूँ।
बार-बार तुम मेरी ओर देखती हो।

(हमारा रिश्ता एक नाटक है।)

तुम चाहती हो
कि लोगों को दिखाने के लिये तुम्हारा आखिर कोई रहे,

इसलिये मैं मरूँ नहीं।
मैं चाहता हूँ
कि तुम्हारा गला घोंट दूं
ताकि लोगों को ऐसी-वैसी कोई गलतफहमी न रहे !

(९)

बार-बार तुम मेरी ओर बढ़ती हो,
और बार-बार मैं तुम्हारे होठ चूमता हूँ।

(मगर डरता हुआ कि लिपिस्टिक में तुमने कहीं
विष न मिला लिया हो !)

(१०)

तुम्हारा यकीन है
कि मैं बहशी हूँ, संस्कृत सिर्फ मेरी भाषा है !
मेरा यक़ीन है कि तुम बहुत खूबसूरत हो—
वो हर चीज जो तुम हो,
खूबसूरत है !

और इसीलिये,
जब बेसहारा होकर गिरने लगती हो,
तुम्हें बाँहों में ले लेता हूँ।
और इस अहसास को ओढ़कर सो जाता हूँ
कि हम एक हैं।
(मगर नींद टूटने पर
तुम बिस्तर पर नहीं मिलती हो !)

मैं सामने पड़े हर व्यक्ति से यह जानने की कोशिश करता हूँ
कि मेरे सो जाने पर तुम कहाँ निकल जाती हो।
और हर व्यक्ति इस बात पर चुप रहता है !

(तुम्हारा नियंत्रण वाक़यी बहुत सख्त है !)

(११)

मैंने कब कहा
कि अपने कपड़े उतार लो,
और नग्नता को ढकने के लिये रोशनी पहन लो।

(रोशनी तो खुद बेपर्दा है।)

(१२)

सुनो, मेरी मैना मुझसे नाराज है!
वह सोना बिलकुल नहीं खाती।
मत भूलो,
उसे किसी भी हालत में मरने नहीं देना है।

(१३)

मैं अपने खेतों की हरियाली को जिलाने के लिये
अपना खून दे रहा हूँ।
और तुम?

भंगी कोलनी

●

सूरज की पहली किरन
कँटीली झाड़ियों से उलझती रहती है ।
मुझसे यह भी नहीं होता कि जाकर जरा संभाल लूँ !
वैसे ही,
चाँद का पहला-पहला प्यार
धूल फाँकता रहता है ।
और मैं
अपने प्यार की टूटी कड़ियों को
जोड़ने के निष्फल प्रयास में लगा रहता हूँ ।
प्यार मार खाते-खाते
आकर अब कसाई हो गया है ।

(२)

जब कभी भी मेरी नज़र तुम पर जाती है,
प्यार हो आता है,
और मैं अपने तमाम दुःख-दर्द भूलकर
तुम्हारे फट रहे होठों पर कोई नई मुस्कान ला देना चाहता हूँ ।
फटे हुए मैले-कुचैले वस्त्रों से दिखायी पड़ रहे तुम्हारे अंगों को
अपनी बरौनियों से ढक लेने की बेजा कोशिश करता हूँ,
और मेरी आँखें जलने लगती हैं ।
पुतलियों पर खरोंच महसूस कर
उन्हें जोर से भींच लेता हूँ ।

(३)

तुम्हें नहीं पता,
तुमसे कितना प्यार था एक आदमी को।
उसके दर्शन और सिद्धांतों के साये में तुम पैदा हुई थी—
कई बार तुम्हारा जश्न मनाया गया था।
(उसकी खबरें तब मैं अखबारों में पढ़ लिया करता था)
लोग
कृतकाम होने के लिए
तुम्हारे शरीर के पसीने और मैल को चरणामृत समझकर
चाट लिया करते थे।
कुछ विशेष अवसरों पर
रामधुन से संगीतमय हो रहे वातावरण में
केशर-चंदन से अभिषिक्त तुम्हारे बदन पर
फूल-मालायें चढ़ाई जाती थीं।

(सचमुच, तब तुम्हारा बहुत बड़ा भाग्य था!)

(४)

और अब मैं देखता हूँ,
तुमसे छल किया जा रहा है।
सहानुभूति का रंग चढ़ाकर तुम्हारे पास जानेवालों की नजरें
पहले तुम्हारे कट रहे मांस-पिंडों पर जाती हैं।
वे तुम्हारे शरीर की गर्मी को महसूस कर
इस बात का हिसाब लगाते रहते हैं
कि उनके ठंडे पड़ रहे शरीर को
तुमसे कितनी गर्मी पहुँच सकती है।

मैं देखता हूँ,
वे तुम्हें घसीटकर बाजार में डाल चुके हैं।
मगर कोई मेरी बात नहीं सुनता।

जिसे श्रद्धा से वे भगवान कहते थे उसी की बेटी के साथ
यह कुकृत्य !

(५)

मगर उनकी नीयत पर कोई शक नहीं कर सकता।
उसके माथे पर लात देकर वे बहुत ऊँचा उठ गये हैं।
वे सब सचमुच बहुत बड़े लोग हैं।
धर्म, ईमान, नैतिकता,
सामाजिक दायित्व आदि उन्हीं पर टिके हैं !

(६)

मैं तुम्हारे पास होना चाहता हूँ
मगर हो नहीं पाता।
लोगों की आँखें मुझ पर लगी रहती हैं।

(७)

चाहता हूँ,
कि तुम्हारा शरीर एक बार फिर से कलस उठे,
चेहरा कुछ लाल हो जाये,
आँखें नई रोशनी को पाकर चमक उठें !
और गीत जो होठों पर आकर सूख गये हैं,
मेरा स्वर लेकर जिन्दा हो जायें,
आँखों के स्वप्न
वर्तमान बन जियें !

यानी बहुत प्यार से
तुम्हारे काँट-बन को चूम-चूमकर हरा कर देने के खयाल में
बेसहारा हो गया रहता हूँ।
कि सहसा कोई कंकाल
मेरी चेतना पर आकर गिरता है,
और तुम्हारी बे-बसन रजस्वला हकीकत

मेरी—
मेरे वतन की बीमार नग्नता को
लाकर सामने खड़ी कर देती है।

(८)

उस दिन ढलती रात में
एकाएक तुम्हारी चीख सुनायी पड़ी थी।
और मैं नींद से उठकर
बदहवास दौड़ते हुए तुम्हारे पास पहुँच गया था।
वहाँ पहुँचने तक किसी की आहट नहीं मिली थी।
मगर,
फिर तुरत ही
कुछ अपरिचित लोगों द्वारा घेर लिया गया था।
तुम खून से लथपथ बेहोश पड़ी थी,
और आँखें खुली-की-खुली रह गयी थीं।
मेरे सिर पर खून चढ़ आया था
मगर मैं कुछ भी नहीं कर सकता था—
मुझे मुश्कें कस दी गयी थीं।
हाकिम की समझ से भी
तुम्हारा रेप
मैंने ही किया था!

(९)

जिस बच्ची के मुँह में स्तन देकर काम में लगी रहती हो—
मसलन सूप और दौरी और बेनिया तैयार करती रहती हो,
उसके बाप का तुम्हें पता नहीं।
तुम्हारा अपना पति दारू-ताड़ी पीकर कहीं पड़ा रहता है।
काम से थककर जब कभी जंभाई लेती हो—
(अंगड़ाई लेते हुए तुम्ह मैंने कभी नहीं देखा)
आदतन

(मन-ही-मन)
गिन जाती हो :

एक !
दो !!
तीन !!!

यानी तुम्हें तीन-तीन बार
बलात्कार के कारण गर्भपात की यंत्रणा झेलनी पड़ी है।
हर बलात्कार
तुम्हारी स्मृति के आइने में
मनुष्यता का प्रमाण-पत्र बनकर मौजूद है।

(१०)

तुम्हारा स्वामी
जब भी आता है, तुम्हें छप्पर के नीचे से
बाहर सड़क पर खींच लाता है।
बिजली की रोशनी से बाहर का अन्धेरा
उसे ज्यादा माफिक़ लगता है।

(११)

तुम जितने साल की नहीं उससे अधिक जख्म
तुम्हारे शरीर पर अंकित हैं।
और तुम्हारी आँखें
अपनी बच्ची के अनिश्चित भविष्य को पढ़ पाने में असमर्थ
एक ख़ौफनाक अन्धकार से जूझती रहती हैं—
अन्धकार, जिसका अर्थ होता है—भूख और बलात्कार !

(१२)

मुल्क की आजादी का
तुम्हारे लिये कभी कोई और अर्थ नहीं रहा !

(१३)

तुम्हारा मौन हर बार मुझे एक कठघरे में खड़ा कर देता है।
मैं नहीं जानता, मेरा गुनाह क्या है.
सिवा इसके कि मैंने तुमसे प्यार किया है—
तुम्हारे पास से गुजरती हुई गंदी हवा की पीठ पर
शहादत की खुश-बू लाद दी है।
और जहां अन्धेरा खड़ा रहता है
वहां हर बार रोशनी खड़ी करके तुम्हें देखा है—
यह महसूस किया है
कि इस ज़िन्दगी में जो सबसे खूबसूरत चीज़ हो सकती है
वो तुम हो,
तुम, केवल तुम, और कुछ नहीं।

(१४)

मेरी हर सुबह
उन जगहों को सहेजने में खर्च हो जाती है
जहां तुम पर बलात्कार हुआ है,
या गर्भपात हो जाने पर तुम डूब-डूब गयी हो।
मेरी आँखें
तुम्हारी रजस्वला हक़ीकत पर,
जो वस्त्राभाव में प्रायः बेपर्दा रह जाती है,
कोई एक नक्शा उतारती रहती हैं।
और मेरा यह विश्वास है,
कल अपने वतन के जिस्म पर
उससे सही और खूबसूरत नक्शा और कोई नहीं
उतरेगा!

भंगी कोलनी (२)

●

बाबू, यह ठीक है
कि तुम मेरी बहुत चिन्ता करते हो ।
मगर देखते तो हो
कि तमाम हो-हल्ला के बावजूद
मुझे लोग ऐड़ी के नीचे मसलते रहते हैं ।
और जिन्हें लूटना है वे मेरी इज्ज़त
दिन-दहाड़े लूट ही लेते हैं ।
और ई सब देख कर,
मैं जान्ती हूँ बाबू,
तुम्हें बहुत दुःख होता है ।
मगर ई सब से क्या होगा—
तुम्हारे दुःख का रिश्ता मेरे सुख से नहीं है ।

तुम पर मेरी इज्ज़त लूटने का एक दिन अछरंग लगाया गया था
जबकि बाबू,
तुम मुझे अन्धेरे के बलात्कार से छुड़ाने के लिये
आगे बढ़े थे—
अकेले साहस बटोर कर आगे बढ़े थे ।
मैं तो तब होश खो चुकी थी,
मगर बाद में सुना—
उस रात तुम्हें बहुत पीटा गया था ।
और जब तुम खून से नहाये बेहोश पड़े थे,
तम्हें रस्सा लगाकर थाने पहुँचा दिया गया था ।
मुझे इसका दुःख है—
बहुत दुःख है ।

मगर बाबू, पूछती हूँ,
इससे भी क्या होगा !
जब तक मेरे घर की छत और दीवारें पोख्ता नहीं होतीं,
तब तक तुम्हारे जान दे देने से भी मैं कहाँ बचूँगी !
जब तक मेरे घरवाले
दारू की बोतल और ताड़ी की लबनी में
कैद होने के लिये
अपनी ज़बान और हाथ कटाते रहेंगे,
तब तक मेरी खैर कहाँ है !

और बाबू, जरा ई तो बताओ
कि ई भंगी और अछूत क्या होता है ?
जिसकी जेब में पैसा,
और हाथ में अधिकार होता है
वह आदमी फिर दूसरा कैसे हो जाता है ?
बाबू, ई दूसरा आदमी,
चाहे मेरी झोपड़ी में हो चाहे तुम्हारे घर में,
उसकी जात एक होती है।
न छोट खराब है, न बड़,
खराब तुम्हारा ई दूसरा आदमी है—
बिलकुल जल्लाद होता है,
राक्षस !
बाबू, करना ही है तो पहले इस दूसरे आदमी का
हिसाब करो।
और फिर मेरी छत और दीवारों को भी
अपनी-सी मजबूत करो—
किसी के भी सामने फैलने की
मेरे मुह और हाथों की आदत को बदलो—
अपने ढंग से बोलने,
और अपने ढंग से उठने का
उन्हें मौका दो !

सच कहती हूँ बाबू,
पहले मेरे हाथों को अपने हाथों की बराबरी में उठने तो दो !
फिर देखो,
मैं अपनी रक्षा अपने-आप कर लेती हूँ ।
तब मैं तुम्हारे माथे का बोझ नहीं होकर
तुम्हारे हाथों की ताकत हो जाऊँगी ।
और किसी को पता तक नहीं होगा,
जबकि मैं तुम्हारी धरती की हरियाली बनकर लहराती रहूँगी ।

बाकिए बाबू,
ई कानून-वानून का तुम्हारा चक्कर क्या है ?
कानून से भी क्या कोई आदमी बनता है ?
बोलो ना, कौन बड़ा है— कानून या आदमी ?
अरे बाबू,
बनाना ही है तो पहले आदमी बनावो !
न छोटा,
न बड़ा,
न छूत न अछूत,
बस आदमी !

और तुम तो सब समझते हो बाबू,
तुमसे क्या कहना !
ऊँच और नीच का,
काले और गोरे का फर्क खून नहीं मानता,
जहाँ भी काटो, खून लाले निकलेगा !

सूर्य-ग्रहण

●

[ऐसा हुआ कि गंगा में आग लग गयी। और जल के जीव बाहर किनारे पर निकल आये। गांव वाले सोये रहे। एक कवली को छोड़कर। कवली रात भर खामोश अन्धेरे का हाथ थाम्हे खड़ी रही। जीवों का रेंगना और मछलियों का तड़पना देखती रही। सुबह हो जाने पर भी उसे दिन का पता नहीं चला। बहुत बाद जाकर अपने सुगने का खयाल आया। और वह तड़प उठी। लेकिन, अभी घर की ओर दौड़ने जो मुड़ी ही थी कि किसी ने उसे दबोच लिया × × × ×]

बहुत गर्म होने लगी है
सुबह की हवा
जबकि दोपहर ठंड पड़ गयी है।
आदमी का मिज़ाज
हवा में बंद रह जाने वाले पैराशूट की तरह
एक-न-एक संकट पैदा करता रहता है।
उसका जीवन या युद्ध-दर्शन

बादल नहीं
जिससे धरती
कभी अपनी प्यास बुझा सकेगी।

मुझे बहुत भली लगती है
वह कुतिया
जो बिना कांय-कांय किये
कुत्ते के पास खड़ी हो जाती है।
और कभी इसको लेकर हाय-तोबा नहीं मचाती

कि उसे सिर्फ कुछ क्षणों की खोज में
आधा दर्जन पिल्लों को जन्म देना पड़ता है।
सड़क पर चप्पा खाकर मर जाने वाले पिल्ले
मुझे आदमी से ज्यादा इनक़लाबी लगते हैं।
माना कि उनमें से किसी ने ताजमहल नहीं खड़ा किया,
न ही किसी ने पीसाटावर या स्टैच्यू आव लिबर्टी को
खड़ा करने का गौरव प्राप्त किया है।
मगर उनके हिसाब में
कम-से-कम
क्यूबा या वियतनाम तो नहीं है।

यूं कुत्ते भी अब बहुत कम भौंकने लगे हैं!
मगर कभी-कभी
जब किसी कुत्ते को भौंकते हुए सुनता हूँ
मेरे सामने
दंगाइयों का हुजूम उमड़ आता है।
और दूसरी ओर,
चप्पे-चप्पे पर,
अपने अस्तित्व के लिये जूझता हुआ वियतनाम खड़ा मिलता है।
फिर,
शोर-गुल से छँटकर
यह हिसाब लगाने लगता हूँ
कि दिन में कितनी बार
वियतनाम की कुमारियों का पवित्र खून बहता होगा!
और कितनी बार
अमेरिकी युवतियों को
हिचकी रोककर
अपने रूमाल को तर करना पड़ता होगा।
और तब,
यह हिसाब लगाने का वक्त नहीं मिलता
कि वियतनाम की झोपड़ियों
या अमेरिकी रेस्ट्राओं में

वृद्ध बेसहारा माताओं
और वैधव्य की आशंका से स्याह पड़ती जा रही
युवतियों के सामने
कितनी-कितनी बत्तियां
जलने से इन्कार कर चुकी रहती हैं।

(क्यूबा या बोलिविया के जंगलों में
सुलगी हुई आग की ख़बर
आखिर कितनों को है ?)

सान्त्वना के लिये
इसके सिवा और कोई बात नहीं मिलती
कि अलग-अलग नामों में बँटे हुए
दोनों भूखंडों के ऊपर का आसमान अन्ततः एक ही है।
और उनकी झीलों और नदियों के ऊपर
उड़ने वाले पंछियों को
अपनी आकृति एक ही तरह दिखायी पड़ती होगी।

जबकि,
इसका पता
मेरे सिवा शायद और किसी को भी नहीं—
मेरी प्रेमिकाओं को भी नहीं।
जो जब बेहद खुश हो जाती हैं,
कहती हैं, तुम बहुत बदतमीज हो !

●

और वाकई मैं बहुत बदतमीज हूँ।
बदतमीज हूँ, कि कहता फिरता हूँ,
मेरा अपना कोई देश नहीं,
कायदा-कानून नहीं,
घर नहीं,
और जायदाद नही।
कि मुझे सजे-सजाये घरों में रहने वाले

साफ कपड़े पहनने वाले अच्छा खाना खाने वाले लोग
बेवकूफ या बेहूदा नजर आते हैं।
कि मां-बाप को छोड़कर
अब बीबी को सर पर लिये चलता हूँ।
कहीं जाते समय रोज ही कहता हूँ—होशियार रहना।
और घर में बच्चों को पाकर
रोज ही उन्हें जन्म-दिन की बधाइयां देता हूँ।
कभी यह महसूस नहीं करता
कि सुबह है या शाम।
और दिन तथा रात को समान रूप से काटता हूँ

●

लोग हैं जो प्रेमिकाओं के पीछे पागल हुए फिरते हैं।
और मैं उन्हें कसाई-घर की ओर बढ़ती हुई बकरियों के
रूप में
देखता हूँ। प्रेम या कि देश-प्रेम मेरे लिये केला खाकर
सड़क पर फेंक दिये गये छिलके के सिवा और कुछ नहीं है।
लोगों की देखा-देखी
अब मैं भी
सभ्य बनने की कोशिश करने लगा हूँ।
यानी
अपने सिर से लेकर बीवी तक के नीलाम की
बोलियां बोलने का अभ्यास करने लगा हूँ।

●

क्यूं ?
मेरे लिये
कोई सज़ा तजबीज की है आपने ?
आप
जो सत्ता हाथ में लेने के लिये
अपनी आँखें निकलवा चुके है।
हवा की खुशबू लेने के लिये
नाक नहीं रह गयी है।
और जल का स्वाद परायी जीभ से
लेने लगे हैं।

नहीं !
जानता हूँ, आप ऐसा नहीं कर सकते ।
चोर को चोर और कातिल को कातिल
नहीं कह सकते ।
आपको खुद अपने ऊपर
कई-कई उंगलियाँ उठती हुई महसूस होती रहती हैं ।
अकेले में
आप खुद से घबड़ाकर
अपना गला घोंटना चाहते हैं ।
और अपनी ही आकृति देखकर चौंक जाते हैं ।
आपको
हर वक्त ऐसी आशंका लगी रहती है
कि कोई है आपके आस-पास
जो आपको इस तरह मरने नहीं देगा ।
इसकी कोशिश हमेशा
आपको कठघरे की ओर ढकेलते जाने की रहती है ।
और लोगों के अपने होकर भी
अपने नहीं रह गये है आप ।
जब लोगों की जबान बोलती है,
लोगों की जबान नहीं रहती ।
और जब तक मैं
आपसे आपकी जबान में बातें करना सीखता हूँ,
आप कोई और ज़बान बोलने लगते हैं ।
मौका पाकर
जब मुझे बहशी करार देते हैं,
आपको एक दर्द होता है ।
मैं उस दर्द को जानता हूँ ।
मुझे उसी दर्द का भरोसा है ।
और उससे भी अधिक भरोसा उस वक्त का है
जब आप खुद आकर मेरी जगह खड़े हो जायेंगे,
मेरे अपराध अपने ऊपर ले लेंगे ।

और तब अन्धेरे घर की तख्ती पर
सबसे सही और पहला हक आपका होगा।
मगर
मुझे यह भी मालूम है
कि वह वक्त ऐसे नहीं आयेगा।
उसके पहले
मुझे
कई-कई बार
उस तख्ती पर
खुद चढ़ना होगा।
और मुझे फूल-मालायें समर्पित करने का
आपका यह नाटक
कई बार खेला जा चुकेगा।
(अन्धेरे में सब कुछ चलता है)

●

जब तक
बुर्जुवा संस्कृति की पकड़ कायम रहेगी,
आदमी का यही हाल रहेगा।
आज तक की कविता, कला कहानी—
यानी जो कुछ भी सामने है—
सब
उसी की बेटियाँ हैं।
न्यायालयों के पास पहुंचने वाले लोगों का
इनसे कोई वास्ता नहीं।

धरती के लिये
पाताल तोड़कर
जल निकालना होगा।
खून से उसकी प्यास नहीं मिटती।
और आसमान की नीली गहराइयों के पास
धरती के पेड़-पौधों की जिज्ञासा का

कोई उत्तर नहीं है ।
उत्तर उन्हें स्वयं बनना होगा ।

●

अब तो
गंगा में भी आग लगने लगी है,
मेरे हम वतन !
और तुम में से कुछ
जो बेहद बदनसीब हैं
पानी के लिये तड़पने लग गये हैं ।
—क्या तुम अपनी सारी बदनसीबी मुझे दे सकते हो ?
मैं तुम्हारी उस बदनसीबी को
समूची कौम की नियति में बदलकर
लोगों के हाथों में लोहा और बारूद थम्हा देना चाहता हूँ ।

●

रोशनी तुम्हें आखिर साजिश करती-सी क्यों लगती है ?
क्या बात है,
कि अन्धेरा मन के माफिक पड़ने लगा है ?
क्यों,
आखिर क्यों अपनी बीवी और बच्चों को चूमने से तुम डरने लगे हो?
मेहबूबा को सीने से लगाने पर
तुम्हें खुशी क्यों नहीं होती ?
(डर है, कि हवा शिकायत कर देगी ?)
मैं जानता हूँ,
तुम ऐसी शिकायतों से भी नहीं डरते हो ।
सूरज का उगना
और अस्त होना
तुम्हारे लिये कोई खास अर्थ नहीं रखता ।
तुम हमेशा
अपनी घड़ी को ठीक किये रहने में
लगे रहते हो ।
और मैं बताऊँ ?

अब मैं घड़ी के हिसाब से जीने के विरुद्ध जेहाद करने लगा हूँ।
(घड़ी को घड़ी की जगह से हटाकर
कहीं और फेंक देना होगा)
क्या होगा,
जो हमारी कलाइयों, टेबिलों और घंटाघरों पर
घड़ियाँ नहीं रह जायेंगी !
धरती की सभी नदियां एक बारगी सूख जायेंगी !
कहीं किसी पर्वत का पता नहीं चलेगा !
ये हरे-हरे मैदान नहीं रह जायेंगे
धरती के ऊपर बिछे हुए !
आसमान नहीं रह जायेगा !
—तब क्या होगा !
जानता हूँ,
आज आदमी का ताल्लुक
इन सारे सवालों में से
किसी से भी नहीं रह गया है।
खुद अपने से भी नहीं।
(जब वह अपने परिवेश से कटा हुआ है)

●

आज का
हमारा सबसे बड़ा सवाल
अपने परिवेश को जिन्दा रखने—
उससे जिन्दे साक्षात का है,
जिसका निश्चित पुरस्कार गोली है।
और गोली
इसके
उसके
तुम्हारे
मेरे—हम सबके लिये।
केवल जॉन के लिये नहीं,
किंग के लिये नहीं,
बॉबी के लिये नहीं।

एक किंग या कैनेडी का मारा जाना काफी नहीं होता;
उससे आततायी की सिर्फ एक गोली कम हो जाती है।
चे-ग्युआरों की सेना खड़ी करनी होगी—
अन्धेरे को दूर करने के लिये।

●

बिलकुल बिलकुल बिलकुल नहीं।
ओसवाल्ड और रे और सिहरान बिलकुल नहीं,
जो अंगुली खुद अन्धेरे पर नहीं उठती।

डान ज्यो
मातमपुर्सी के लिये इकट्ठी
हर भीड़ में
उसकी नब्ज़ पकड़ कर चलता है।
खाता-पीता रहता और खाकर मोटा हुआ जाता है।
उसके संशय का लाभ उठा कर।
उसे कोई भय नहीं,
कि उसे मालूम है, लोग सिर्फ चिल्लाते हैं।
अपना चिल्लाना।
कोई किसी को नहीं देखता, किसी को नहीं सुनता।
और हत्यायें साफ-साफ बेबुनियाद घोषित हो जा रही हैं।
हजारोंहजार किलोमीटर लम्बी जाँच-पड़तालें
एक अन्धकार से शुरू होकर दूसरे अन्धकार पर खत्म हो जाती हैं।
और चर्चा का विषय
वियतनाम
या कि क्यूबा बना रहता है।

●

सभी जानते हैं,
हर मुकाम पर
हर मुकाम से शुरू होने वाले हर रास्ते पर
हर रास्ते के हर मोड़ पर
एक-न-एक कोई बॉबीयार मौजूद है।
और सभ्य बने रहने को अभिशप्त काफिले

सुरक्षा की खोज में
घूम-फिर कर वहाँ पहुँचते रहते हैं।
मगर कोई नहीं जानता—
कोई नहीं,
कि बॉबीयार को उसी का इन्तजार है।

●

लाल मशाल
जर्मनी में
इटली में
चेकोस्लोवाकिया में जलती है।
आज इंडोनेशिया में तो कल होके चीन में जलती है,
जापान में जलती है।
वाशिंगटन और पेरिस की कोशिशें
समानान्तर चलती रहती हैं,
उसकी रोशनी से डरकर
अपना मुँह
चुराये रहने की।
और अन्धकार अपनी जगह पर जमा रहता है।
नामुमकिन नहीं,
कि आज जोर्डन के दामन
या प्राहा की छाती पर पड़ने वाले खून के छींटे
कल ह्वाइट हाउस
और क्रेमलिन के ऊपर
संशय के बादल बनकर छा जायें।

●

पूछने पर
रोशनी को सूरज का पर्याय समझने वाला
शायद ही कोई मिले।
शायद ही कोई मिले जो कहे कि वह जिन्दा है
खाता-पीता
सोता और जागता है

जैसे चाहता है।
चाहत को उठा देने के लिये
हम सब
वाक़ई बहुत शुक्रगुजार हैं
अपनी इस शताब्दी के।
शुक्र गुज़ार हैं,
कि यह कहने की जरूरत नहीं रही
कि यह आसमान यह घर यह समय अपना है।
(तुमने देखा है,
तुम्हारे घर की दीवारों पर दरारें पड़ने लगी हैं।
और वह आईना,
जिसमें सुबहोशाम अपनी सूरत खोजने दौड़ते हो,
बिलकुल अन्धा पड़ गया है।)

बचने के लिये
अब कोई रास्ता नहीं रह गया है
सिवा इसके
कि अपनी झीलों का जल साफ रखा जाय।
और जब
कोई अन्धड-तूफान या कि भूचाल आये,
गुस्सा
अपने बन्द कमरे की खामोशी पर
मुक्का मारकर
नहीं उतारा जाय।

●

आदमी
आज खुद से डरकर
अपनी ही आकृति पर गोली दागने लगा है।
अपनी औलाद को शत्रु समझकर
उसे विध्वंस के हवा लेकर देने की कोशिशें
उसकी परिभाषा निर्धारित करने लगी हैं।

उसके इतिहास और समय को देखते हुए
अब यह बहुत जरूरी लगता है
कि कुछ शब्दों के अर्थ बदल दिये जांय ।
यानी औरत औरत नहीं लगे
जब औरत के रूप में खड़ी हो ।
भूख महसूस नहीं करे
भूख में जल रहा आदमी,
कहे नहीं कि भूखा है ।
आसमान नीला नहीं लगे, लगे लाल है ।
यह धरती ग्लेसियर हो जाय
या ज्वालामुखी अन्न का भंडार समझा जाने लगे ।
लावा लगे हरी-हरी फसल है ।
गरज़ ये
कि एक भी बुनियादी सवाल खड़ा नहीं हो,
आम
खास में बदल जाय ।
जंग
शान्ति की जगह ले ले ।
और हर मरने वाला
इस अहसास से हँसता-गाता मरे
कि पैदा हो रहा है ।

●

मगर
इससे भी पहले जरूरी यह है
कि स्वतन्त्रता का,
समझदारी—सहानुभूति का,
सह-अस्तित्व का,
कम-से-कम रोशनी और अन्धकार का अर्थ
बदल जाय ।
आदमी को इस खयाल से शर्मिन्दा नहीं होना पड़े
कि आदमी है ।

एक ज़माने से
आदमी आहार बनता आया है
आदमी का ।
आदमियत
सूली पर चढ़ी-चढ़ी
अभी तक जिन्दा है ।
एक ज़माने से
बाजार में खड़ी रहते आयी है
औरत—
उसका दाम रोज-रोज उठता-गिरता रहता है ।
(वेश्या हो जाना
मुक्ति नहीं दिला सका है उसे
माँ, बहन, बीबी या दोस्त बने रहने से ।)

एक ज़माने से
मर्द उसे नंगी करके नचाता रहा है,
भूमंडल के दहकते क्षितिजों पर ।
फिर भी, उसकी नामर्दी दूर नहीं हुई है ।

(मन्दिर या गिरजाघर का घंटा
सिर्फ अपनी मर्दानगी का इज़हार करने के लिये
बजाता रहता है ।)

युद्ध,
मैं देख रहा हूँ,
उसके लिये सर्कस से अधिक महत्व नहीं रखता ।
शान्ति-चर्चा बौद्धिक विलासिता के सिवा और कुछ नहीं है ।

●

और युद्ध-संकट मौजूद है ।
खत्म नहीं हो पा रहा है
शान्ति-वार्त्ताओं का सिलसिला ।
और उसी लपेट में

आज पेरिस
तो कल जिनेवा में
कंसर्ट और कॉकटेल और बॉल की गर्मी बनी रहती है।

●

कल होने वाले युद्ध में वैसे
एक भी आदमी नहीं मरने वाला है।
सब-के-सब खुदकुशी कर सकते हैं।
इसलिये,
एक बात साफ है—
कल कोई युद्ध नहीं होगा।
आदमी खुद से तंग आकर अपना आईना तोड़ देगा।
आशियाना जलाकर खाक़ कर देगा।
और जो उससे भी चैन नहीं मिला,
जाकर जानवरों के बीच रहना शुरू कर देगा—
फिर से कोई नयी भाषा सीखेगा।

●

इस शताब्दी का मौन भंग करने के लिये
आज एक अदद औरत काफी है।
एक कतरा आदमी
या आदमी का खून
बहुत काफी है
महायुद्धों का इतिहास,
संस्कृतियों का उद्भव और अन्त,
ध्वस्त खंडहरों का मौन--कब्रों के शिला-लेख
खा जाने.
खाकर पचा जाने के लिये।

●

काफी है,
कि कभी नहीं हुई थी
यह दुनिया इतनी रुग्ण,
इसकी गति इतनी कुंठित,
नीयत इतनी घटिया।

प्रमाणिकता की खोज के लिये
लोग इतिहास के पास दौड़ते थे,
आश्रय के लिये न्यायालयों के पास ।
राजा की नींद जाकर तोड़ते थे
जब बचाव का कोई रास्ता नहीं मिलता था ।

काफी है,
कि आज सब कुछ बदल गया है ।
या कि कुछ भी नहीं रह गया है ।
रह गया है
अविश्वास.
अन्धेरा,
अराजक न्यायडंडा ।

समय इतना अकेला कभी नहीं पड़ा था ।
कभी नहीं हुई थी इतनी भयावह उसकी नींद ।

आज
हर बार जब कोई नींद तोड़ता है,
समय को बदला हुआ पाकर परेशान हो उठता है—
उसकी साँसें परेशानी में ही टूटती रहती है ।

●

जाहिर है,
कि समय का खाद्य बनने के लिये
कोई एक नेपोलियन
या कि हिटलर
या स्तालिन काफी नहीं होता ।
कोई एक दगाल,
कोई एक जॉनसन उत्तर नहीं होता उसकी समस्याओं का ।
उसकी आखिरी सीमा है
न्यायालयों,

दरबारों
या कि जलसाघरों से बाहर
मगर हमेशा कठघरे में खड़ा आदमी
जो कि जनता है ।

●

मैं कल्पित ईश्वर की बातें सोचते-सोचते
खिलौने की तरह बनते-बिगड़ते आदमी की सूरत से
उलझने लगता हूँ ।
और फिर कविता
या कहानी की कोई सम्भावना नहीं रह जाती ।

●

अन्धेरे का बढ़ता हुआ हाथ
आज हर मस्तिष्क का दुःस्वप्न बनकर चलता है ।
आज जॉन तो कल किंग
और फिर कल होके रॉबर्ट पर पड़ता है ।
यानी इस पर
उस पर
तुम पर
मुझ पर—हम सब पर
उठा रहता है ।
और मेरी आँखों में
एक सूरत
कई-कई चोट खायी सूरतों से
निकलते हुए खून में
बनती, बनकर मिटती और
फिर बनने लगती है ।

मैं समझता हूँ,
अन्धेरे का अन्त समीप है ।

शब्द

●

आदमी
एक-एक कर
उस औरत के पास पहुँचते रहते हैं,
और उसके जिस्म को रौंद कर चले जाते हैं।
वह मुर्दा पड़ी रहती है।
(उसके पास कोई भाषा नहीं।)
मुझेउसका कोई नाम नहीं मिलता,
और मैं समझता हूँ, वह अपना देश है।

(२)

जब सूरज ढल जाता है,
मैं अन्धेरे के आगोश में पड़ जाता हूँ।
रात मेरे प्रश्नों का पैमाना बनकर खड़ी रहती है,
और मैं हर बात का उत्तर अगली सुबह पर छोड़ देता हूँ।
चाहता हूँ कि किसी तरह नींद आ जाये
मगर नींद उचक कर एक किनारे खड़ी हो जाती है।
और मेरा बिस्तर
युद्धान्त के मैदान-सा
शान्ति की मेरी हर इच्छा का उपहास करता रहता है

(३)

और कोई नहीं कहता, मुझे क्या हुआ है
जबकि मुझे मालम है, मैं बीमार हूँ।

बीमार हूँ कि कोई खास बीमारी नहीं है।
बीवी और बच्चों से बातें करता हूँ
तो ऐसा नहीं लगता
कि किसी और से बातें कर रहा हूँ।
गर्ज यह
कि अपने हिसाब से सब कुछ ठीक है,
(जहां सब कुछ ठीक नहीं हो वहाँ
जाने क्या होता है!)

(४)

(यहाँ बाजार में वैसे आज क्या नहीं बिक जाता है!)
मैं शिक्षित और सभ्य नहीं हुआ,
लोगों की निगाह में बर्बर हूँ—
मुझे इन बातों से कोई असुविधा नहीं होती,
बल्कि कहूँ
तो इसीसे अपने पर कुछ ज्यादा यक़ीन करने लगा हूँ।

और लोग हैं
जो शब्दों पर चढ़ कर
क्रान्ति का तमाशा कर रहे हैं—
लिंकन या मार्क्स को
सुविधानुसार बाजारों में पहुँचाते रहे हैं।
और मैं उन पर हँसता हूँ,
इस बात की परवाह किये बिना
कि वे मुझे समाज में रहने नहीं देंगे।
किन्तु मुझे अपने विषय में
कोई ग़लतफहमी नहीं है।
मैं अपने हँसने के अर्थ को समझता हूँ।
और मुझे विश्वास है
कि मेरा कोई भी अन्दाज़ कभी ग़लत नहीं होता।

(५)

काफी हाउस की रोशनी एकबारगी गुल हो गयी थी।
मगर बेयरा
मेरे पास बिल लेकर घबड़ाया हुआ नहीं आया था।
और भी बहुत से लोग थे
जो बड़े इत्मीनान से बैठे हुए थे।

आज सुबह बाहर जाते वक्त
बीवी भी बड़े इत्मीनान से थी।
देखा,
उसकी आँखों में किसी किस्म की कोई आशंका नहीं थी।
और बच्चे ने भी टॉफी लाने के लिये कहा था।
यानी उन लोगों के खयाल से
मेरा सकुशल वापस लौटना
एक प्रकार से निश्चित था।
लगता है,
बड़े-से-बड़े विनाश को भी
हम इसी तरह बहुत आसानी से झेल लेंगे।
मरते भी रहेंगे
तो इस बात की चिन्ता नहीं रहेगी
कि सदियों लम्बी हमारी विरासत का क्या होगा!

(क्या अभी आदमी की कोई भी विरासत
अस्तित्व में नहीं आ सकी है?)

(६)

सूरज को देख कर आदमी गर्मी
और चाँद को देखकर ठंड महसूस करता है।
धड़कनों का अन्दाज़ लेने के लिये
दिल पर हाथ ले जाता है।
और जब उसे अपने होने पर यक़ीन नहीं होता,

आईने के सामने जा कर
खुद से अपने होने का हाल पूछता है ।
(मुश्किल तब होती है जब सामने का आईना अन्धा पड़ गया रहता है ।)

(७)

मेरा बच्चा रोज़ रात को बाघ बनता है,
और किसी भी आदमी पर
ठीक बाघ की तरह ही झपटता है
बाघ का मारा जाना
उसे सिनेमा में भी अच्छा नहीं लगता ।
उसका ख़याल है,
बाघ सबसे बलवान होता है
और उससे
किसी का कभी कोई अहित नहीं होता ।

(बाघ के ख़ूनी दाँत या पंजे से वह वाकिफ नहीं है ।)

(८)

कभी-कभी किसी फूल को बड़े प्यार से हाथ में ले लेता हूँ,
उसे तोड़ता नहीं ।
सूखी घास पर हरा रंग चढ़ाकर यह यक़ीन कर लेना चाहता हूं
कि वह ज़िन्दा है ।
और बच्चे को गोद में लेकर
बीवी के प्यार को मन-ही-मन सराहता हूँ क्या
सराहते हुए उसे महसूस करता हूँ ।
और फिर-फिर इस बात पर यकीन करता रहता हूँ
कि बाघ के ख़ूनी दाँत या पंजे नहीं होते ।
बच्चा मुझ पर गरज कर झपटता है,
और मैं उसे अपनी पीठ पर ले लेता हूँ ।

(९)

चाय ख़त्म करते-करते
आँखें दीवाल पर टंगी तसवीर पर पड़ती हैं।
और फूल के समानान्तर खिलती हुई एक लड़की को देखते-देखते
इस खयाल में खोने लगता हूँ
कि फूल भी दीवाल होते हैं।
और मुझे फूलों से चिढ़ हो जाती है।

(तब तक बच्चा आँख के पास अंगुली लाकर
कह उठता है—
बाबा, आँखें निकाल लूँ!)

(१०)

ऐसे ही कभी-कभी चाँद पर भी ख़फ़ा हो जाना पड़ता है
कि पूरा दीखते-दीखते वह इतना क्यों भाने लगता है—
क्यों नहीं उससे फटे हुए पटाखे या बम की-सी
विषैली गंध आने लगती है!

खेतों में धान या गेहूँ की बालें कितनी अच्छी लगती हैं!
किन्तु, राशन की दुकान तक पहुँचते-पहुँचते वही बात नहीं रह जाती।

जबकि भूख हमें इसलिये नहीं लगती
कि हम कंकड़-पत्थर या कीड़े खाने लगें,
या पेट को
आग में गीली लकड़ी की तरह
जलते रहने दें।

(११)

उस दीवाल की भी आँखें होती हैं

जो आदमी और आदमी के बीच खड़ी रहती है,
और वह इस पार और उस पार के आदमी के अन्तर को
देखती समझती रहती है।
(कभी-कभी दीवारें आदमी से भी ज्यादा जेहनदार साबित होती हैं।)

(१२)

और मुझे बिलकुल बुरा नहीं लगता
जब कोई किसी को अन्धा या बेवकूफ कहता है।
किसी वस्तु को सही रूप में नहीं देखने-समझने का
इससे बड़ा प्रमाण और क्या हो सकता है
कि कोई कहे, दीवारें ग़ैरजरूरी हैं।

आदमी जो औरतों पर इतना-इतना मरता रहता है
उन पर नज़र भी न डाले
जो वे दीवारों के पीछे नहीं खड़ी हों।
और फिर युद्ध या शान्ति की कोई अहमियत तक
नहीं रह जाय।

(१३)

आदमी क्या है जो घर,
और घर के भीतर घर नहीं है!

(१४)

सुबह हो जाने पर
मैं दिन को वैसे ही ओढ़ लिया करता हूँ
जैसे हर बार दिन के ख़त्म हो जाने पर रात को,
और किसी को कोई गिला नहीं होता।
और देखता हूँ लोगों को
जो किसी पर जब गुस्सा होते हैं,

झुक कर झट उसे प्रणाम कर लेते हैं।
मुझे अक़सर ऐसे लोगों के नाम और चेहरे भूल जाते हैं।

(१५)

पानी की दीवार पत्थर की दीवार से कहीं ज्यादा सख़्त होती है।

(१६)

अपने देश में भूख लगने पर कोई अन्न नहीं माँगता।
और अकाल या महामारी पड़ने पर हरिकीर्तन किया जाता है।

साफ़-साफ जगहों पर
परिवार नियोजन या सेमिनार चलते रहते हैं,
और गन्दी बस्तियों में
आदमी की समस्यायें
चेचक या प्लेग की तरह फैलती जाती हैं।

(१७)

सोचता हूँ,
आज से बीस साल बाद पैदा होने वाला भारतीय नागरिक
कितना खुशनसीब होगा !
रहने को जगह
बिना किराया दिये फुटपाथों पर पा जायेगा।
और बिना दवा-दारू के बीमार पड़ते रहने में
उसे विक्टोरिया या बोटानिक की हवा खाने का मज़ा मिलता रहेगा।
जनतंत्र की हिफाजत के लिये
किसी को कोई चिन्ता नहीं रह जायेगी,
अमन और व्यवस्था का कोई सवाल पैदा नहीं होगा।
वोट देने के लिये मतदाताओं को
अपने बाप का नाम नहीं बताना पड़ेगा।

और युवक-युवती की निगाह में
विवाह अनैतिक अपराध हो जायेगा।

अनाघ्रत फूलों की खुश-बू भी मेरी नज़र से गिर जाती है
जब मैं लोगों को नैतिकता की बातें करते सुनता हूँ।

(१८)

और जब कोई बड़ा आदमी कहीं भाषण करने लगता है,
लगता है,
कोई बेसवा शरीफों के मोहल्ले में नंगी निकल आयी है,
और नुक्कड़ पर खड़ी होकर
भद्दी गालियाँ बक रही है।
और किसी की हिम्मत नहीं होती
कि उसका प्रतिवाद करे,
कहे कि वह बेसवा है, और इस तरह बाहर निकल कर
कौमी ज़बान को खराब करने का उसे कोई हक़ नहीं।

लोगों की आँखें निकाल कर
सामने प्लेट में रख दी गयी हैं।
और वे उन्हें पकौड़ा समझकर खाने में
मशगूल हैं।

(१९)

पंडित
समूचे देश को
समझदारी और वफादारी का सबक रटाने में
लगे हैं।
और माताएँ
अपने पाप का ख़याल कर
शर्मिन्दा हुई जा रही हैं।

मेरे पास उतना अनाज नहीं
कि उनकी आँखों पर पर्दा डाल दूँ।
(राष्ट्रीय योजनाओं की सीढ़ी खड़ी होने की कोशिश में
लुढ़क गयी है।)

(२०)

मैं यहाँ सातवें मंजिल पर बच्चे को गोद में लिये खड़ा हूँ।
और नीचे सड़क पर एक विशाल जुलूस गुज़र रहा है।
और एक बे-बसन औरत,
जिसे कहीं माँ कहा जाता होगा,
एक दूसरी सड़क के किनारे औंधी पड़ी है,
और चूतड़ पर कौवे चोंच मार रहे हैं।

(२१)

बच्चा नीचे कूदना चाहता है।
किन्तु, मैं उसे इस तरह गिर कर आत्म-हत्या करने नहीं दूँगा।
जिन नन्हें हाथों से बैलून उड़ाया करता है,
उन्हें और मजबूत होने दूँगा।
और जुलूस के आगे की जो मंजिल है, वहाँ
उसे पहुँचा कर रहूँगा।

बच्चा, बैलून और गोरैया

●

(१)

एक बैलून के फट जाने की कीमत
जान थी हजार-हजार लोगों की हजार-हजार
घरों की खुशी। नहीं मालूम था। बच्चों को

खुश करने के लिये बैलून पर आसमान को तोलने की मेरी कोशिश
अंततः बीवी के मज़ाक का विषय बन जायेगी
और बीवी स्थिति की गंभीरता से बचने के लिए
चाय-पानी का बहाना करने लगेगी
वह भी नहीं जानती थी।
वह सच-सच कहती थी और मैं कोई एतराज
नहीं कर सका था,
कि एतराज का मेरे हिसाब से
कोई अर्थ नहीं होता।

कोई अपराध नहीं होता
प्रेमिकाओं के लिए पूरे आसमान की मांग करना
खास कर जब धरती तंग पड़ जाय
और लोगों को हवा से शिकायत होने लगे।

आज कितने ऐसे भी हैं
जो हवा से मुंह चुराते हैं और बातें
तूफान से लड़ने की करते हैं जिससे
और नहीं तो राहत के लिये ही सही
होता कम-से-कम यह है कि घर की रौशनी
निश्चिंत हो जाती है, उसे इस बात का खौफ नहीं रहता

कि तूफान
हवा से शक्तिशाली होता है।

(२)

जबकि बात बिल्कुल उल्टी है।
जिसे प्रेमिकाएं नहीं समझतीं उसे
बीवी समझती है और रात-रात भर
सो नहीं पाती जब कोई नया बैलून आता है।

(३)

(बच्चे की निर्दोष खुशी
अपना अर्थ पाने के लिये
मचलती रहती है।)
जब मम्मी और पापा आपस में झगड़ नहीं रहे हों,
रेडियो से नाटक या गाना चल रहा हो, समय से
चाय बन जाती है
वह समझता है सब कुछ ठीक है
कम-से-कम जब उसकी आंखें दीवारों
या दीवारों पर उतरी हुई आकृतियों पर जाती है,

उसे कोई घबड़ाहट नहीं होती।
हृदय में एक उल्लास होता है
जिस पर घर की तमाम मरहूमियत को
लाद कर शाम के अंधेरे को सौंपने के लिये
वह बाहर निकल जाता है।
और यह नहीं सोचता,
कि आदमी ने रोशनी पर
अपना एकाधिकार जमाने के लिए
सुबह के उजाले और शाम के अंधेरे का
फर्क मिटा दिया है, बना दिया है,

अपने लिए एक ऐसा चक्रव्यूह
जिसमें उसकी अपनी हत्या
अपने ही हाथों होनी है।

(४)

उपलब्धि के नाम पर
यह कम नहीं कि किसी अभिमन्यु की हत्या के लिये
किसी जयद्रथ या कौरव सेना का नाम नहीं लिया जा सकता।
इतना समझदार हो गया है आदमी
कि अपने अंदर के महाभारत के लिये
किसी गैर का नाम नहीं लेता, रोता नहीं फिरता इस बात को लेकर
कि उसकी नियति बड़ी क्रूर है, बल्कि अपने और अपनी तबाहियों
या कि बर्बादियों पर गर्व करता है, खासकर जब यह सोचता है,
कि जो काम इस धरती पर नहीं हो सका,
उसे चांद या मंगल पर पूरा कर लेगा।
प्रेम या बच्चा पैदा करने या फिर लड़ाई
करने के लिये कोई और तरीका निकाल लेगा।
जबकि प्रारंभ को अपनी जगह रहना है और अंत को
अपनी जगह ताकि दो विषम स्थितियों के बीच का
संतुलन-बिंदु मिट नहीं जाये।

(५)

संतुलन बिंदु का मैं यह नहीं कहता कि बने रहना
बहुत जरूरी है।
कोई जरूरी नहीं है वहां जहां पर गुणात्मक और ऋणात्मक
इकाईयों का फर्क मिटा दिया जानेवाला है।
मगर जहां हर इकाई
अपनी सत्ता को अक्षुण्ण बनाये रखने के लिये दृढ़ हो
ब्रह्मांड में इतनी तंगी न हो कि मंगल को उठा कर शनि के ऊपर

पटका जाये, वहां हर वस्तु के संतुलन-बिंदु का बने रहना
जरूरी है।

(६)

मैं जानता हूँ
जब बीवी घर के अंदर खुश रहती है,
सब कुछ समय से मिलता जाता है,
कमरों की दीवारों पर रौशनी इतमीनान से पड़ती रहती है।
बिस्तर के संगीत में कोई व्यतिक्रम पैदा नहीं होता।
और रात की खामोशी इसलिए भी बहुत भली
लगती है
कि सुबह के लिये अनावश्यक रूप से इन्तजार करने
का कोई प्रश्न नहीं रहता।

बल्कि यकीन इस बात पर जमा रहता है
कि कल भी भूख बहुत तगड़ी लगेगी, खाना
खाने-पचाने में किसी किस्म की कोई दिक्कत
नहीं होगी। और सामने फुदकनेवाली गौरैया
आँखों में आसमान का सारा रंग घोल जाएगी।

डगर

●

इधर कुछ दिनों से
अनाम वस्तुओं के नाम जानने की मेरी कोशिश जारी है।
आईने पर अब बिलकुल एतबार नहीं रहा
और मैंने
उससे अपना संवाद बंद कर दिया है।

मैं
धरती और आसमान को
पर्वत को और नदी को
नया नाम देना चाहता हूँ।

फूलों की खुश-बू और वातावरण की बद-बू के फर्क को
नये ढंग से महसूस करना चाहता हूँ।

चाहता हूँ—
जब पाँव में कांटा चुभे,
जुबान पर उफ तक न आये

और कोई नौजवान जब ज़मीन के साथ होकर
चलने के जुर्म में मारा जाये,
मौत का नाम तक न लिया जाये—बल्कि कहा जाये—
बात आगे बढ़ी है।
(जिन्दगी की कशमकश या हक़ की लड़ाई में
मौत का हिसाब कोई मायने नहीं रखता।)

कभी-कभी जब
आसमान का रंग नीला
और खून का ंग लाल दिखायी नहीं पड़ता,

व्यवस्था से तंग आ गई कोई जान
किसी नुक्कड़ पर
पुलिस के पहरे में
खून से लथपथ पड़ी रहती है—देर-देर तक
उसके नाम का पता नहीं चलता,

और सूरज
प्रकाश की जगह अन्धेरा उगलना शुरू कर देता है,
लगता है,
हवा से भी आंच आने लगी है,
और जिस्म के अन्दर का खून
एकबारगी लावा में बदल गया है।
तब
खून से लिखे अक्षरों को
स्याही से पोतनेवालों की भीड़ से अलग हटकर
क्षण भर के लिये कहीं जब खड़ा हो जाता हूँ,

सामने
पूंछ उठाये बछड़े को चाटती हुई
एक गाय खड़ी मिलती है।
और बिलकुल पास ही कोई बुढ़िया
इस तल्लीनता से गोइंठा थापने में लगी रहती है
जैसे थाप-थाप पर एक-एक दुनिया सवँरती जा रही हो।

फिर,
इच्छा होती है कि मन
पास की किसी मैना या कि गोरैये

या फिर बिलकुल किसी नन्हीं बच्ची को
क़रीब खींच लाये,

आसमान को पीती हुई उसकी आँखों में
अपने ढेर सारे प्रश्नों के उत्तर खोजे,

उसे जरा रोक कर पूछे—
बोलो, सुब्हे-सुब्हे की धूप तुम्हें कैसी लगती है !
दिन जब जाने लगता है,
तुमसे क्या कहकर जाता है !
और फिर
तुम्हें कैसे पता चल जाता है
कि सुब्हे आकर सिरहाने खड़ी है !

तब तक
दूर किसी जंगल में
आग लगने का शोर सुनाई पड़ता है,

वोल्गा का जमा हुआ जल पिघल कर
ह्वांग-हो में, ह्वांग-हो का गंगा में,
गंगा का पद्मा और पद्मा का सिन्धु में
प्रवाहित होता मालूम पड़ता है ।

और बीच में खड़ी तमाम पर्वत श्रेणियाँ
देखते-देखते धरती में धँस जाती हैं,
हिरोशिमा के ध्वंस पर खड़ा शान्ति-स्तूप
('स्टैच्यू आव लिवर्टी' की बराबरी में)
इस बात का हिसाब लगाता रहता है,
कि वियतनाम के जंगल
और खोह और पहाड़
अभी और कितने नापाम
पचा सकते हैं !

फिर, एक झटका लगता है,
जब हीरे की खान के पास
सायरन की आवाज पर सांस टाँग कर
तार-तार हुए कपड़ों में लिपटी कोई औरत
कोयला चुनते हुए दिखायी पड़ती है

या,
अस्पताल में मरे जवान बेटे के पास खड़ा बाप
कफन का जुगाड़ करने की सोच में
खाली जेब से
कभी समझ में नहीं आने वाली भाषा में
बातें शुरू करता है।

और मैं
यह याद करने लगता हूँ
कि अपने वतन को अलविदा देते वक्त
लुमुम्बा की आँखें
अन्तिम बार किस वस्तु पर पड़ी थीं—

अपने वक्त और अवाम के दरिन्दों से
घिर जाने पर
चे
जिस घास
या टहनी
या चट्टान का सहारा लेकर खड़ा था,
वह कौन थी—
उसका नाम क्या था !

फिर, कुछ नहीं होता।
मेरे बच्चों की माँ झल्लाकर पूछती है—आईना कहाँ है !
और मैं अपनी आँखें—अफ्रीका के घने अन्धकार को छेदती हुई आंखें
उसके सामने कर देता हूँ।

(कभी-कभी गुस्सा भी प्यार में कितना जल्द बदल जाता है !)

उसका मौन
मेरे सामने
सारा-का-सारा आकाश बिछा देता है।

हमारी धड़कनों की रफ्तार तेज होने लगती है
और धरती सिमटकर बहुत छोटी हो जाती है।

कपोत की गर्दन कितनी सुघर होती है !
उसकी सुघराई को महसूस करते-करते

मैं
किसी नीग्रो युवती को
एकान्त झील के जल में
अपनी सूरत निहारते देखता हूँ,

आहिस्ते-आहिस्ते
उसके पीछे जाकर पूछता हूँ—

कौन हो ?
तुम्हारा नाम क्या है ?
झील का जल तुससे क्या बातें करता है ?

वह कुछ नहीं बोलती।
आईने पर पत्थर मार कर
भाग जाती है।

तब लगता है—

सूरज अकेले मुझ पर चमकता है।
और झील की खामोशी
जिस जान को खाती रहती है
वो सिर्फमेरी है।

यह स्थिति बड़ी भयावनी होती है ।
इससे निजात पाने के लिये मैं फिर
चुप्पी और अन्धेरे के विरुद्ध सर उठा रहे नये पौधों में
जल देने लगता हूँ
जिसमें जल कम, ज्यादा मेरा खून और पसीना मिला होता है ।

इत्तफाक

●

(१)

चूल्हा-चौका बन्द करो।
चलो, आज तुम्हें एक चीज दिखला लाऊँ।
(सिनेमा क्या चीज है !)

चलो भी तो,
देखोगी, जिन्दगी भर नाम लोगी। लौटने पर गले बाँहे डाल
मुँहमांगा इनाम दोगी।

सुना है,
इस साल एक नयी चिरई उतरी है।
और आदमी की जबान आदमी से भी अच्छा बोल लेती है।
कुछ कहते हैं,
यह पहले भी कभी-कभी उत्तर आती थी।
और इसके उतरने से लोगों के भाग्य खुल जाते थे।
मगर कुछ कहते हैं,
नहीं, और कभी नहीं, यह सिर्फ इसी साल उतरी है।
और अपनी धरती के लिए यह बहुत शुभ है।

अकाल का साया अब कभी नहीं पड़ेगा, लोग
बेकारी से तंग आकर खुदकशी नहीं करेंगे। रक्तपात
नहीं होगा। और अब तक (अन्धेरे मे) जो खून
बह चुका है वह तेल होकर हरी क्रान्ति की मशाल में जलेगा।

कहते हैं लोग, और कहते-कहते नहीं थकते
कि वह परी है, दुर्गा है, भवानी है। अवाम की
मुक्ति का पैगाम लेके आयी है।

और जहां ठहरती है, वहां एक दुनिया
बस जाती है, और जहां से उठती है वहां से
एक दुनिया उजड़ जाती है।
और जब सो जाती है। (वैसे बहुत कम
सोती है) धरती को अन्धकार निगल लेता है,
और जब आखें खोलती है, सूरज निकल आता है।
और लोग, जिन्हें रोशनी दिखाई पड़ गयी है,
जय जयकार कर देख रहे है
और बाकी लोग अवाक हैं, उन्हें कुछ नहीं सूझता।

इधर उधर देखते, जब कोई नहीं रहता, फुसफुसाकर
कहते हैं, गजब हो गया। एक
बार जब गाय सामने आयी थी,
सोमनाथ की मूर्ति भंग हुई और मुल्क से उसकी
अहमीयत छिन गयी थी।
इस बार फिर वही गाय सामने आयी है!
राम जाने क्या होगा! पीछे क्या हो!!
अल्लाह रखवार है!!!

(२)

तुम्हारा यह प्यार मेरी जान,
इत्तफाक़ नहीं।
इत्तफाक़ नहीं तुम्हारा गुस्सा उठना—
गुस्साकर अलग कट जाना।
तेजी से चढ़ती-उतरती साँस का तुम्हारे क़रीब होकर रुक जाना,
हवा का यूं ही कभी ठंडी तो कभी गर्म पड़ जाना,
दिन का फूलों के पास दौड़-दौड़ पड़ना,
और फिर सुनसान गलियों में—गलियों के ख़ामोश घरों में
लौट जाना,
छुरों का देह में धसकर लाल हो जाना,
बम-विस्फोट का, पटाखों के बीच, रह-रहकर कोई खौफनाक बात
बोल जाना—कुछ भी इत्तफाक़ नहीं।

इस गली का उस गली से मिल जाना,
उस नुक्कड का इस नुक्कड़ पर हावी हो जाना,
बैल का गाय
और गाय का बैल में बदल जाना—
यह भी इत्तफाक़ नहीं ।

हँसुवे-हथौड़े का दीवारों को लांघकर गली-गली घूमना,
हर गली के हर दरवाजे पर जाकर दस्तकें देना,
पाइप गनों का वक्त के साथ होकर अवाम की ज़बान बोलने लगना
और अवाम का चुप लगा जाना—
मुझे लगता है, आज कुछ भी इत्तफाक़ नहीं ।

अभी कल का वाक़या है :
बहरामपुर जेल से निकल भागने में नौ कैदी मारे गये,
कितने जेल के अन्दर ही घायल होकर सड़ते रहे,
या फिर सड कर मर गये ।
उससे भी ताजा वाक़या यह है
कि अकेले ढाका में,
अमन और इंसानियत के दुश्मनों के जाल को तोड़ फेंकने के उत्साह में
हजारों नौजवान फौजी बर्बरता के शिकार हुए ।
यानी एक क़ौम हमेशा के लिये मर गयी,
और दूसरी पैदा हुई ।
यानी दुनिया के सामने एक बार यह फिर जाहिर हो गया
कि अवाम की ज़बान फौजी फरमान या तानाशाही की आवाज से
ऊँची होती है ।
ढाका का कुछ ऐसा है
कि खून से लथपथ सड़कें और गलियां और चौमुहानियां
मुझे बांगला देश से जोड़ती हैं,
जबकि दिल्ली मेरे देश-निकाले का फरमान लिखने में
लगी है ।

चेहरों का रातों-रात बदल जाना,
एक ही साँस में कई-कई ज़बान बोल जाना,
एक आँख से हँसना, दूसरी से रोने लगना,
एक दिल को कई-कई लोगों में बाँटते फिरना—
नहीं-नहीं, यहां कुछ भी इत्तफाक़ नहीं।
प्यार के मौसम में भी तुम्हारा कभी-कभी लहक उठना,
बच्चों के सामने तक उबल पड़ना
कि मैंने तुम्हारी जिन्दगी बरबाद कर दी है—क्या कहूँ,
कि इत्तफाक़ है !
एक ओर जहां इस हमसुख़न चिरई के उतरने के लिये
ज़मीन तैयार करने में
हजारों नहीं लाखों नही करोड़ों नहीं, अरबों का वारा-न्यारा हुआ,
वहां तुम्हारी खाँसी के लिये दवा की एक टिकिया नहीं ला सका,
जिन आँखों में डूबकर
पलभर के लिये
जिन्दगी के बोझ से मुक्ति पा जाता हूँ
उनके लिये सिंगार काजल की एक डिबिया भला क्या चीज थी !
मगर अपने गणतन्त्र ने मुझे इस लायक भी नही रखा !
नहीं, नही,
तुम ठीक कहती हो—बिलकुल ठीक कहती हो,
मैंने तुम्हारी जिन्दगी बर्बाद कर दी !
नहीं जानता, इससे भी ठीक कोई ज़बान हो सकती है
आज प्यार के लिये।
अपने मुल्क की शतप्रतिशत तो नहीं,
मगर अधिकांश प्रेमी-प्रेमिकाओं का यह तकिया कलाम कोई इत्तफाक़
नहीं हो सकता।
इत्तफाक़ है तो किसी तरह हमारा यहाँ बच रहना !

फिर भी, फिर भी यह यक़ीन कर लेना चाहता हूँ
कि अपना मुल्क बहुत अच्छा है—उसकी हर चीज़,
हर याद बहुत खूबसूरत है।

सबकुछ के बावजूद ।
अखाड़े की नरम-गरम मिट्टी,
तालाब के जल,
बगीचे की खुश-बू, कूकती कोयल
या पिहकते पपीहे,
डालों पर पत्तों के बीच हिलते टिकोढ़ों
या सिन्दूरी गोपी को
कभी-कभी याद कर पाता हूँ
तो बरबस गाँव सामने आ जाता है,
और ऐसा नहीं लगता
कि वह खराब है—उसके लिये मेरा दिल नहीं तड़पता ।
सबकुछ के बावजूद मैं आज भी तड़पता रहता हूँ
अपने उस गाँव के लिये
जिसने मुझे इस शहर को अपना घर समझने के लिये छोड़ दिया है,
हालाँकि यहां सामने आने वाला हर चेहरा अजनबी है,
इसकी सभी दीवारें टूटी हुई हैं कुछ इस तरह
कि सुरक्षा का ख़याल कोई माने नहीं रखता ।
फिर भी, यह इत्तफाक़ नहीं
कि तुम्हारे साथ यहां होने में मुझे अच्छा लगता है ।

सुबह से शाम और शाम से सुबह तक
कई-कई आवाजें मेरे पास पहुँचती रहती हैं
मुझसे मेरी असलियत तलब करने के लिये—
यह पूछने के लिये
कि अपने वक्त और अवाम के मुतल्लिक मेरे क्या ख़याल हैं ।
और मैं
उन्हें तुम्हारे क़रीब बैठाकर सब कुछ सुनता रहता हूँ ।
सुनता रहता हूँ
कि मुल्क का भविष्य अन्धकार में है,
कि सड़कों पर लोकतंत्र की हत्या खुलेआम हो रही है,
कि गली-गली में, गलियों के नुक्कड़ों पर

लोगों की कटी हुई जबानें
पोठिया की तरह तड़प रही हैं,
कि कुछ लोगों की आँखें
जबर्दस्ती निकालकर
कुछ लोगों में मनमाना बाँटी जा रही हैं,
कि जगह-जगह खड़ी बूथों पर
स्वेच्छा से रेप कराने वाली लड़कियों की क्यू लगी है,
और लोग पीला कार्ड दिखाकर
मनमाफ़िक चीजें उड़ाये लिये जा रहे हैं,
कि पाँच रुपये से दस रुपये रोज पर छुरे भाड़े पर आते हैं,
और कुछ भाड़े पर मारते हैं, मरते हैं।
कि, बकौल रवीन्द्र सरोवर की बुढ़िया के,
रंडी ने भगवान को पकड़ लिया है।
और न जाने क्या-क्या, कैसा-कैसा, कितना-कितना !
किसको काट दूं, किस पर यक़ीन करूँ !
यह सब जो है, है।
बहुत मुश्किल है यक़ीन कर लेना,
और उससे भी मुश्किल है नहीं यक़ीन करना !

(३)

(जशन में मशगूल भीड़ के पास पहुँच कर)

चलो, ऐसी चिरई देखने से बाज आये, लौट चलें।
मुझे इतनी-इतनी रोशनी से डर लगता है।
सच कहूँ, अब तुम मुझे
रोशनी से कहीं ज्यादा अन्धेरे में अच्छी लगती हो,
जब मैं तुम्हें देखकर नहीं, छूकर महसूस करता हूँ।
(यह रोशनी जाने कब अन्धकार में बदल जाये
और देखते-देखते हम उसमें गर्क़ हो जायें !)
एक मशाल जलाने के लिये कितना-कितना खून देना पड़ता है

और यहां इतनी-इतनी रोशनी !
नहीं, चलो । अपने घर के अन्धेरे में वापस लौट चलें ।
यहां धोखा नज़र आता है ।
चलो, पहले बैठकर हिसाब कर लें :
कितना खून बहा है !
पाढ़े के कौन-कौन घर अपनी रोशनी खोकर चुप हैं !
अपनी गली में कितनी आहें बिखरी हैं !
कितनी-कितनी आँखें आखिर रो-रो कर गली हैं !
आज और कुछ से पहले यह हिसाब जरूरी है ।
यह हिसाब कल शायद सही रोशनी को पहचानने में
हमारी मदद करे ।
चलो, चलो, लौट चलें ।
सूरज जो नकली होगा, भेद खुल जायेगा ।
और जो असली होगा,
हमारे जगने के साथ-साथ आयेगा—
सबसे पहले अपना मुन्ना उसे अपने दरवाजे पर पायेगा ।

अकेले नहीं हूं

●

वर्षों बाद मैना वापस आई है
और मेरे आंगन की खामोशी टूट गयी है।
बच्चा तितली पकड़ने के लिए दौड रहा है।
बीवी आंजन पारते हुए गुन-गुना रही है।
मैं
इस खुशी
इस चुप
इस अंधियारे को
बाहर कहीं बांट आना चाहता हूँ।
मगर गलियां बंद हैं।
खुलेंगी,
जब आसमान का भय नहीं होगा,
और बच्चे एक दिन किलकारी मारते हुए दौड़ेंगे।
घरों के दरवाजे अपने आप खुलने लग जाएँगे।
माताओं के स्तनों में दूध उतरा जाएगा।

और सब-तो-सब
दादी माँ की थकी हारी आंखें भी
आसमान में चांद खोजने के लिये दौड़ने लग जायेंगी।

मैं अकेले नहीं हूँ, यह अहसास भी है
मेरे साथ-साथ चलने के लिए, फल को
देखने और कांटों को सहलाने के लिये खुशबू को
छूने और शीत और धूप और हवा को छेड़ने के लिए।

पानी के धोखे में तेजाब घोंट जाने के लिए
और रोटी के धोखे में पत्थर पर दांत लगाने के लिए।
मैं अकेले नहीं हूँ। यह अहसास भी है। और तुम भी हो।
जब यह धरती किसी मासूम के खून से भीग जाती है,
और हमारे ऊपर का आसमान नयी फसल में आग लगी देख कर
अवाक रह जाता है;
जब छोटे-छोटे बेपनाह बच्चों को सड़े हुए दूध के पाउडर में
दूध का धोखा हो जाता है और युवती माताएँ गर्भस्थ शिशु के
भविष्य का खयाल कर भूख-प्यास तक भूल जाती हैं।
जब आदमी आदमी के सामने पड़कर अपना नाम नहीं याद कर पाता
और कोई ग्लेशियर किसी जगह की हरियाली पी जाने की जल्दी में
अपना रास्ता बदल देता है,

मैं अकेले नहीं हूँ सूरज को गाली देने---ललकारने के लिए।
यह अहसास भी साथ है। और तुम भी हो।
फर्क सिर्फ यह रह जाता है,
कि तुम्हें मैं याद नहीं रहता
जबकि मैं तुम्हें भुला नहीं पाता हूँ।
और सुबह का इन्तजार करने के पहले
तुम्हारा इन्तजार कर लेता हूँ।
रौशनी से बार-बार धोखा खाते रह कर भी
इस यकीन पर चलता रहूँगा
कि एक दिन ऐसा भी होगा
जब हमारे बीच का फ़ासला मिट जाएगा
और वह स्वाद जो मेरा है
तुम्हारा भी हो जाएगा।
इस खुशी, इस चुप, इस अंधियारे में,
हम सबका बराबर-बराबर हिस्सा होगा।

चवरी

●

(१)

कभी चंदवा-रूपसपुर
कभी चवरी !
यह चवरी कहाँ है ?
भोजपुर
यानी बाबू कुंवरसिंह के जिला शाहबाद
यानी दलितों के पैगम्बर महात्मा गांधी के
हिंदुस्तान
यानी अब इस नये समाजवाद में
आखिर कहाँ है चवरी ?

जलियांवाला बाग से कितनी दूर—
वियतनाम के कितना करीब ?
कोई भी ठीक-ठीक नही बोलता !
फिर, तू ही बोल—कहां है चवरी !

तूने तो
देश-विदेश के ड्राइंगरूमों में सजे
किसिम किसिम के आईनों में झाँका होगा—
कहीं चवरी को भी देखा !
जो सड़क चवरी से निकल कर दिल्ली जाती है
उसका दिल्ली से क्या वास्ता है ?
चवरी की हरिजन टोली के नौजवानों के धुंधुआते पेट से
खींचकर बाहर लाई गई अंतड़ियों की लंबाई क्या है !
(कुछ पता है, वे कब फिर पलीता बन जाएंगी !)

(२)

चंदना-रूपसपुर से चवरी पहुंचने में
समय को कितना कम चलना पड़ा है !
और कितनी कम बरबाद हुई है राजधानी की नींद
पुलिस के खूनी और न्यायपालिका के बूचड़खाना बन जाने में !

(३)

जिसे कहते हैं
मुल्क
प्रशासन
न्यायपालिका
उसका रामकली के लिये क्या अर्थ रह गया है ?
रामकली गुम होकर सोचती है
और उसकी समझ में कुछ नहीं आ रहा है ।
लाली गौने आई है
और लाल मोहर उससे छीनकर मिटा दिया गया है—
वह समय के सामने
अकेले, बुत बनी रहती है—उसकी बेवाक आँखों के लिये
दिन और रात में कोई फर्क नहीं रह गया है !
दीना और बैजू और रघुवंश की छान्ह के नीचे
जनतंत्र
किसी बहुत बड़े कुकृत्य के मुजरिम-सा
सिर नीचा किये बैठा है
और कहीं कुछ नहीं हो रहा है !

(४)

मज़बूरी का नाम महात्मा गांधी है
फिर भूख और तबाही और जोरो जुल्म का क्या नाम होगा ?
क्या नाम होगा इस नये जनतंत्र और समाज का ?

नक्सलबाड़ो या श्रीकाकुलम् बहुत छोटा नाम होगा !
फिर सही नाम क्या होगा ?

(५)

तुझे मुल्क ने जाने-अनजाने
जी-जान से अधिक चाहा है
तेरी मुस्कान को तरोताजा रखने के लिये
(खुद भूखा रह कर भी)
एक-से-एक खूबसूरत गुलाब पैदा किया है ।
तेरे फूल को
(जब तू नहीं रहेगी)
गोद में ले लेने के लिए
हरी-से-हरी घास उगाई है
और तेरे होठों को चूमने के लिये
बड़ा से बड़ा जानदार आईना तैयार किया है ।
फिर क्या कमी रह गयी है
कि उसकी सुबह, अब तक
शाम से अलग नहीं हो सकी है ?

(६)

ठंडे लोहे पर टंगी
काठ की घंटियों के सहारे
आंगन के पार द्वार
कठपुतली उर्वशी का यह नाटक
आखिर कब तक जारी रहेगा ?

(७)

आत्महत्या के लिये सबसे माकूल वक्त तब होता है
जब रोशनी से अंधकार का फर्क मिट जाता है

बोल, फिर क्या बात है—आत्महत्या कर लेगी ?
या अंधेरे से घबड़ाया हुआ कोई हाथ बढ़कर
तेरा गला दबोच देगा ?
छिप कर कहाँ रहेगी ?
आज सारा हिन्दुस्तान चवरी है
जिसके हिस्से से रोशनी गायब है।

गोबरधन

●

आज यानी १७ अक्तूबर, '७३ को भी
(यह मेरा जन्म दिन है)
और दिनों की तरह ही
(जबकि अन्धेरे ने मुझे चारों ओर से घेर रखा है)

मैं कल की उम्मीदों को
तुम्हारी दफ़न हुई जिन्दगी पर उगी
घास की हरियाली में खोजता हूँ—
तुम्हारे सामने
अपने मुल्क का नक्शा रखकर
उसे समझने की कोशिश करता हूँ।

गोबरधन,
वहाँ बहुत कुछ है, एक तुम्हीं नहीं हो !
सिर्फ पुकारे जाने के लिये तुम्हें एक नाम मिला था।
और कहने के लिये
(छलनी-छप्पर का)
एक घर
जिसके नीचे
पात-पखेव खाकर तुम सो जाते थे
कि सुबह हल-बैल लेकर
मामा के खेत में जुट सको।
तुम्हारी देह खाली हड्डियों में अँटकी खड़ी थी—
उसमें रक्त और माँस मैंने कभी नहीं पाया।
उस पर भी तुम्हारे हाथ-पैर बड़े वफादार थे—

शायद इस्पात के बने थे।
जाड़े और गर्मी का उन पर कोई असर नहीं होता था।

धान और जौ-गेहूँ की बालियों से,
सरसो और तीसी और मटर के फूलों से,
चने की घुंघरूदार कमीज
और ऊख के हलके बैंगनी साफे से
तुम्हें इतना लगाव था
कि वह लगाव ही शायद
तुम्हारी अपनी घरवाली और उसके बाल-बच्चों के लिये
एक तरह से दुराव था।
तुम्हारी आँखे
दुर्दिन के अन्धेरे को पीछे छोड़
हमेशा नयी फसल पर चमकती रहती थीं।
तुम अपने लिये अभागा मगर मामा के लिये कुबेर थे।

तब मैं 'होरी' को नहीं जानता था।
बाकी गोबरधन, तुम नाना-मामा से भी
मेरे नजदीक थे—
मेरे लिये सारा हिन्दुस्तान थे।
आज मैं समझता हूँ,
नियति से जूझने में
तुम 'होरी' से सौ क़दम आगे थे।
और अपने वतन से छाँह और छाया पाने में
सौ क़दम पीछे।
तुम भूखे थे, प्यासे थे, दुखी और लाचार थे—
और जाने क्या-क्या और कितना थे।
मगर ऊपर-ऊपर से तुम चुप थे।
(कभी-कभी वैसे तुम्हारी आँखें अचानक जल उठती थीं
और मैं हक्का-बक्का खड़ा रह जाता था!)
फिर भी, तुम्हारे हृदय में मेरे लिये बहुत-बहुत प्यार था।

यह दूसरी बात थी
कि तुम मुझे प्यार नहीं दे सकते थे
क्योंकि तुम मामा के हरवाहे और जाति के चमार थे।
मै तुम्हें नाना-मामा नहीं कहकर गोबरधन कहता था।
माँ तुम्हें काका-भैया नहीं कहकर गोबरधन कहती थी।
फिर भी,
तुम सूखा चना चबा रहे होते
या सूखी रोटी,
तुम्हारी आंखें हमें हमेशा असीसती रहती थीं—
खाली पेट एक लोटा ठंडा जल पीकर भी
तुम कितना तृप्त हो जाते थे।
तुम्हारा दाढ़ी-बढ़ा और दूर-दूर तक फैलती हुई आँखों वाला मुँह
मेरे लिये एक आत्मीय संसार था।
पेनी मे खड़ा होकर भी
मनुष्य के रूप में तुम सबसे ऊँचा
और सभी रिश्तों के ऊपर थे।
गोबरधन, तुम मेरे लिये पूरी धरती और पूरा आसमान थे।
माँ तुम्हारे लिये बाबूजो के कुर्ते
और गुदड़ो सी-कर रखती थो।
कभी-कभार जब तुम्हारे कंधे से हल उतर जाता था,
उसके लिये तुम 'करनी' लेकर आते थे।
और इधर से निहाल होकर जाते थे।
रास्ते में
तुम्हारी आँखों की तब चमक देखने के लिये
थका हुआ सूरज भी दो पल के लिये ठहर जाता था।
वैसे, सूरज से तुम्हें कोई मतलब नहीं था।
अन्धेरा तुम्हें खाता था
और तुम अन्धेरे को खाकर जिन्दा रहते थे।

जब तुम पैदा हुए थे, अपनी धरती परतंत्र थी।
जब तुम मरे, अपनी धरती परतंत्र थी।

मगर जहाँ तक तुम्हारा खून
हल और हैंगा से लकीर खींच आता था,
वहाँ तक वह स्वतंत्र थी।
···, अफसोस, कि वह खून तब बहुत थोड़ा था।

तुमने शीत और धूप के खिलाफ लड़ने में
फसलों को अपना सारा खून दे दिया।
औरों के घर में रोशनी लाने के खयाल से
अपने सपनों तक को अन्धेरे के हवाले कर दिया।
और मरने के लिये तुम्हें गगा जल तक नहीं मिला!
(इस बहशी सलूक के लिये तुमसे क्षमा माँगना भी अपराध है।)
गोबरधन,
अपने मुल्क की आजादी अपनी कौमियत अपनी समझदारी को
तुमसे—और तुम्हारे जैसों से
अभी बहुत-बहुत दुश्मनी है!
तुम्हें देखना—ज़बान पर तुम्हारा नाम लाना भी
आज
एक तरह से
देश-द्रोह है···फिर भी, फिर भी,

गोबरधन मामा, फिर भी,
मैं तुम्हें गोबरधन के ही रूप में देखने
और तुम्हारी मुक्ति के लिए प्रतिबद्ध हूँ।
क्षमा करना,
कभी जो मेरी भाषा या कि मेरी कविता
तुम्हारे साथ न चल सके···
और अन्धेरे में कोई और रास्ता पकड़ ले!

एक नन्हीं जिन्दगी से वायदा

●

यह आवाज़
न मरी है न मरेगी।
अन्धकार के सीने पर
खूनी सन्नाटे का दिल दहशत से भरेगी
बर्फ के श्वेत स्याहपन पर शिशु मुस्कान का रंग चढ़ाती हुई किरणों
की यह आवाज़
पत्थर की कारा तोड़कर आसमान चूमने को उभरते हुए अंकुरों की
यह आवाज़
कभी न मरी है, न मरेगी।

ना, आज जो कुछ भी होता है उससे कुछ नहीं होने का
मुकुट जो धूल में लोटता है, उसका रंग खून का नहीं, होता सोने का।
खोजो, जहाँ तक बने जाके बीन के—नापके देखो :
कहीं कुछ है जो नापाम और उद्जन से भी अधिक तापवान है,
आदमी का खून इस धरती पर सबसे बलवान है।
आदमी जब मरने पर उतर आता है, उसकी आँखों की रोशनी बहुत
तेज़ हो जाती है,
मरने के लिये दौड़ता है आदमी, और धरती,
तुम क्या हो—बड़े-बड़े तानाशाहों (मनुष्यता के कफन चोरों) की
सेज हो जाती है।

समन्दर से भी धीर, प्रशांत और गहरा होता है आदमी,
पर्वत से भी दृढ़, रहमदिल और ऊँचा होता है आदमी।
मगर तब जब वह हमबद्ध अनुशासन और संकल्प की इकाई है—

गरज़ ये कि आदमी और कुछ नहीं मूल की सच्चाई है ।
फाँसी चढ़ी तनी हुई मुट्ठियों की यह आवाज़
युद्ध की खूंरेजी की उपेक्षा कर बेरोक चीख उठने वाले
नवजात शिशु की यह पहली आवाज़
न मरी है, न मरेगी ।

मुमकिन है, सूर्य की तल्खी एक दिन कुछ कम हो जाए
और पृथ्वी की हरियाली पीती हुई तोपों और संगीनों का ताप कुछ
ज्यादा बढ़ जाय
किन्तु, क्या ज्वार के भय से तट को भी काँपते हुए देखा है किसी ने ?
समन्दर को बाँधे रहने वाली उसकी बाँहों का घिराव बढ़ता जाता है,
और जो बाँहों का विस्तार होता है वो सैलाब में बदल जाता है
(धोखा सिर्फ आँखों को होता है)
समन्दर के हस्तक्षेप को पचा कर तट-प्रदेशों की जिन्दगी के गहराते
हुए संगीत की यह आवाज़
ज्वालामुखी के उन्माद को रौंदकर फूलों के लिए दौड़ पड़ने वाले धरा-
स्वप्नों के कदमों की यह आवाज़
मुर्दा पड़ी जिन्दगी को जगाते रहने के लिये जगी रहेगी ।

मेरे शब्दों में मौत नहीं, जिन्दगी है—
मैंने उसे करीब से देखा है ।
(सच मानो, दुनियाँ में सबसे नायाब सबसे खूबसूरत चीज़ कौम पर
मरने वालों की जिन्दगी है ।)
जो तुम्हारी, इनकी, उनकी-उन सबकी आँखों में
ख्वाब की हकीकत बन कर तैर रही है,
मेरा उसी नन्हीं जिन्दगी से वायदा है :
जब अन्धेरा गहरायेगा, तोपें गरजेंगी,
और आसमान आग उगलने लगेगा,
मैं फिर, सुरक्षित आसमान और सुरक्षित धरती देने के लिये
उस पर
अग्नि-शमित लौह चादर की तरह बिछ जाऊँगा ।

कविता का जन्म

●

कल एक गाँव जल गया।
उसके पहले
उसके पास वाला गाँव
जल गया था और उसके पहले भी
उसके
पास वाला।
और इस तरह गाँव-के-गांव जल गये थे।

नियमित रूप से उडाये जाते रहे शान्ति-कपोतों के
डैनों की फड़फड़ाहट में
अपनी धरती से प्यार करने वाले रचनाकार की जुबान पर
आये
नये शब्दों को
नहीं सुना जा सका। और यह सब
एक मामूली घटना के रूप में
लिया जाता रहा—
आग के चरित्र पर ध्यान नहीं दिया गया।
(आग अन्दर ही धाराबद्ध होती गयी।)
मगर
यह एक जलजला था
जिसकी गिरफ्त में
इस पृथ्वी का यह पूरा-का-पूरा हिस्सा आ गया था :
बाँस-वनों की खामोशी तोड़-तोड़ कर
शब्द पर-शब्द उभरते गये—

सूरज के थक जाने पर भी
झीलें और नदियाँ इस कोने से उस कोने तक स्याही पहुंचाती रहीं—
(तिनकों और फूलों का खून
कभी जमकर 'थोक' नहीं हुआ)
और धरती
अपने रचनाकार की अग्नि-गुहा आँखों में चमकते
लाख-लाख तारों के संकेत
पलकों में समेट कर
निरन्तर आग और लावा उगलती रही—नापाम तक के हौसले
उसके सामने पड़ पानी होते गये—और अन्त में
एक दिन
दृढ़ प्रतिरोध में उठ हुए एक नन्हें हाथ के मुकाबले
'स्वतंत्रता की विशालकाय मूर्ति' भी
छोटी—बहुत छोटी
पड़ गयी ।

वह क्षण
एक बहुत लम्बे खूनी दौर के बाद
अपने वतन लौट रहे उस आखिरी जंगखोर के लिये
'एक महान अनुभव' का क्षण था ।
उसे इसका खयाल तक नहीं था
कि जिस आग से वह बाँस-वनों और उम्मीदगाहों की
हरियाली छीनने की कोशिश में था
वो आग घूम कर उसके घर भी पहुँच सकती है ।
वह अपनी बर्बरता पर अपनी ही नजरों में बेइंतहा गिर चुका था,
और एक नहीं बच्ची
'वियतनाम जिन्दाबाद' से आन्दोलित
अपने होठों की नैसर्गिक मुस्कान से
उसे उठाने में लगी थी ।
वह अब अंधेरे से उजाले में आने लगा था—
धरती पर धरती की सबसे उम्दा कविता का जन्म हो चुका था ।

जोकर

●

स्टेज पर मेरे पहुँचते ही
दर्शकों के बीच जोर का एक ठहाका लगा।
मुझे कुछ घबड़ाहट हुई।
नहीं चाहता था
कि मुझे ठीक से देखे बिना ही
इस तरह कि कोई प्रतिक्रिया हो।
कोई बात होती
जो वे पहले मुझे ध्यान से देखते-समझते
और फिर हंसते, रोते या चप्पलें उछालते।
मगर ऐसा कुछ नहीं हुआ।
मेरी नाक जोड़-जाड़ कर
हिसाब बाहर लम्बी और ऊँची कर दी गयी थीं।
यही हाल कानों का था।
मगर आँखें बिलकुल कौवे की-सी—
इतनी छोटी कि दूर से देखी भी नहीं जा सकती थी।
मुंह केवल सांकेतिक था।
और जबकि पैरों को ठोक-ठोक कर ताड़ बना दिया गया था,
हाथ जड़ से गायब ही कर दिये गये थे।
कीलें इस तरह ठुकी थीं
कि या तो मैं खड़ा रह सकता था
या यंत्रवत चल सकता था—यही बस दो-चार डग।
उससे आगे स्टेज भी खत्म हो जाता था।
यानी जहां मुझे पूरी तैयारी और कलात्मक साज-सज्जा से

खड़ा किया गया था
वहाँ मैं बिलकुल नहीं था।

हाल बड़ा मुश्किल था ।
और हजार मुश्किलों की मुश्किल यह थी
कि मुझे इसी रूप में अभी रहना था,
और प्रदर्शनों का सिलसिला जल्दी खत्म होने वाला नहीं था।
मेरा खेल कई-कई स्टेजों में होता था।
स्टेज-परिवर्तन की सूचना रोशनी गुल करके दी जाती थी,
और जब रोशनी गुल कर दी जाती थी,
दर्शक जोर-जोर से सीटियां मारने लगते थे।
तनाव कम करने के लिये शायद और कोई साधन नहीं था।

दर्शकों में ज्यादातर ऐसे लोग थे
जो सिर्फ सुन रहे थे या सिर्फ देख रहे थे—
तमाशा
या तमाशे का तमाशा।
और बैठे-बैठे उछल रहे थे,
या औरों की देखा-देखी तालियाँ पीट रहे थे—
हँस रहे थे।
उनमें ऐसे कम लोग थे
जिनका ध्यान वस्तु-स्थिति पर भी जाता था—
और वे मेरी ही तरह
सांकेतिक मुँह की जगह सचमुच का—
हाड़-माँस और स्नायुओं का मुँह
और हाथ
पाने की छटपटाहट भरी कोशिश में थे।

मैं चाहता था—चाहता हूँ
कि मेरे मुँह हो, हाथ हों
और पैरों की यांत्रिक गति की जगह सहज गति हो।

ग्रौर जब स्टेज पर खड़ा होना पड़े,
ूरी दृढ़ता से खड़ा हो सकूँ—
ोनों हाथों से ग्रासमान को उठाकर
देशा-भेदी स्वरों में कह सकूँ—
ाह रहा मैं या ग्रपना मुल्क !
ाह ग्रपनी हकोकत !
ग्रौर हक़ीकत की हक़ीकत की हक़ीकत !
केन्तु मैंने पाया—
ारे सरकस के मालिक हाथी ग्रौर बाघ तो पाल लेते हैं
ागर ग्राँख, मुँह ग्रौर हाथ से बेहद खौफ खाते हैं ।
ग्रौर ठीक से जोकर होना भी ग्रपने यहाँ ग्राज ग्रासान नहीं है ।

अपनी परिभाषा खोजते हुए

●

एक बहुत बड़ा अन्धकार मेरे पीछे पड़ा रहता है।
मुझसे मेरा नाम और पता पूछता रहता है।
और मैं चुप हूँ।
अन्धकार न खुद बोलता है, न किसी को बोलने देता है।
मगर हर अन्धकार का मुकाबला करने के लिये
कोई प्रश्न खड़ा हो जाता है
और उसकी कीमत में कभी दिन तो कभी वर्ष और कभी-कभी
शताब्दी तक खा जाता है।
आदमी, लगता है, उससे भी बड़ा है।

ये सुबह
जो बेहद बदनाम सूरज के साथ आयी
दिन नहीं ला सकी।
फिर भी, मैं इसकी लटें सुलझा रहा हूँ हाँलाकि
इसे ढोते-ढोते मेरे कन्धे थक गये हैं।
सूरज बेहद बदनाम
कि आँखों में कुछ भी नहीं उसकी,
कुछ भी नहीं—
चहकती चिड़िया
रम्भाती गाय
हँकड़ता बछड़ा
कुछ भी नहीं।
माथे पर
अपनी गहरी रेखा छोड़ गयी है
एक चीख।
(रेप के बाद बेहोश पड़ी किसी लड़की की।)

मुझे उसका नाम या पता नहीं मालूम फिर भी
वह मुझे नहीं जानती फिर भी फिर भी
उसके पास रुक गया हूँ
कि उसकी आँखों में उतर कर देखूं,
मेरा चेहरा कैसा रह गया है।
(सभी आईने यहाँ पहुँच कर आज अन्धे पड़ गये हैं।)
मुझे पास आते देखकर पेड़ भी अपनी छाया
समेट लेते हैं।
और नदियाँ
रेत की सलवटों में
सिकुड़ जाती है।
धरती
स्वीकार नहीं करती, कोई रास्ता नहीं देती।
मुझे देखकर ठंडी पड़ जाती है।
और मैं
उसे
अपनी साँसों की गर्मी से तल्ख किये रहता हूँ।
फूलों के लिये नहीं, आसमान हलका होता है काँटों के लिये—
पत्थरों के लिये।
मैं पत्थरों के मौन को
काँटों के तीखेपन में ढाल देना चाहता हूँ और काँटों के तीखेपन को
आदमी की साधु भाषा से बदल कर एक नयी जबान हासिल करने की
कोशिश में हूँ।
मेरी ऊँचाई नापने में नाकामयाब दलदल का दरिया
अब
उलटकर
रेत का टीला हुआ चाहता है।
और आसमान अपने बौनेपन से शर्मिन्दा होकर मेरे सामने
झुक-गया-सा
लगता है।

किन्तु, मेरे मन की गहराइयाँ मुझे डुबाती जा रही है।
मैंने चाहा था कि अपने हौसलों की ऊँचाइयों का सहारा लेकर
इस धरती के लिये
कोई नया झंडा खड़ा कर दूं।
मगर यह वही धरती है
जिसके ऊपर अपना कोई आसमान नहीं।
और यह वही आसमान है
जिसके नीचे अपनी कोई धरती नहीं।
(आदमी और किसी के सामने नहीं, अपने हौसलों के सामने बौना
पड़ जाता है।)
मेरा आदमी से पुराना--बहुत गहरा सम्बन्ध है।
मैं आदमी के साथ मरते और जीते आया हूँ,
(आदमी किसी भी हालत में आदमी से ऊँचा नहीं होता।)

पर्वत नदी को पीता है
और नदी पर्वत खा जाती है।
रजत शिखरों पर सूर्य-अक्षरों में लिखी उनकी गाथाएँ पढ़ते-पढ़ते
मेरे हाथ का आईना गिरकर चूर-चूर हो जाता है :

कलियों की कोमलता
और फूलों की खुशबू को
हवा की ताजगी
और चाँद की सुन्दरता को
महसूस करते हुए आदमी
अपने आप से घबड़ाकर
आज जंगली भेड़िये और सूअर से भी खतरनाक
सिद्ध हो रहा है।
मैं किसी को भी मार सकता हूँ।
मगर मेरे हाथ उस पर नहीं उठते।
मेरी नजर जब सही होती है,
वह मुझे हिरनी की आंखों से भी निर्दोष
और फूल से भी प्यारा लगता है।

खंड-दो

एक सूरज माँ के लिए

एक सूरज माँ के लिये

●

कितना जरूरी होता है। उस (डाल) पर। सूरज का चमकना।
हवा का। उसके सीने से आ लगना। जिस पर कोई फूल होता है।
मैंने कांटों को भी पनाह दिया है। फूलों को मनाकर—यह समझाकर
कि धरती की खुशी को मुकम्मिल रखने के लिये। वे भी उतना ही
जरूरी हैं।

(क्योंकि)
दुनिया में जितनी भी नफरत है उससे कहीं ज्यादा
प्यार
मुझे मिला है
माँ से। इस धरती पर।
जहाँ पाँव रखना ज्यादा खतरनाक है
चाँद पर उतरने से।

माँ!
(बेचारी की क्यों जान खाते हो! मेरे अन्दर की मैना झुँझला ती है।
और बात बदल जाती है।)

नदी की प्यास जब नहीं मिटती
तड़फडा कर समन्दर हो जाती है,
या फिर रेत की लहरों में खो जाती है।

नैतिकता
बाजार का सौदा बनने लगती है।

और सेहत के नाम पर
लोगों की आँखें निकालकर खिला दी जाती हैं.

लोग
पियादे की जगह
फील पर चलने लगते हैं।
और वज़ीर बेचारा मात खा जाता है।
अंत में। शाह के लिये। बस आत्म-समर्पण
रह जाता है

मां.
सबसे बड़ा दुष्पाप है यहां
(मत बोलो—मैना मना करती है।)
सच बोलना। और उससे भी बड़ा अपराध है
(मैना रूठी है) उसे घोंट जाना

जरूरत जबकि बोलने की हो।
'सच-सच क्या लगाये रहते हो, बोलोगे?'
—मैना पूछती है—'तुम्हारा सच क्या है?'

मेरा सच मेरा सच मेरा सच
('हां-हां, तुम्हारा सच।'—मैना जोर देकर बोलती है।)

'मैं···मैं···मैं···कहता···अभी कहता हूँ···'

(गौरैया कमरे में चली आयी है। अलग,
एक किताब पर बैठे-बैठे, मुझे देख रही है।)

यह गौरैया बड़ी प्यारी है, माँ।
(होगी!—मैना ऐंठती है।)

'किन्तु, मैं इसकी आँखों में नहीं देख सकता।
थोड़े दिन पहले इसके घोंसले से कुछ अंडे गिरकर

फूट गये ये। आज सुबह, देखा, एक बच्चा
गिरा हुआ है—बिना रोयें का।

सवाल बड़ा टेढ़ा था। गौरैया उसे वापस नहीं
ले सकती थी और मैं जिला नहीं सकता था।
बिन्नू ने अनजाने उसे उठाकर हाथ पर रख लिया था
और मैं उसी समय कटकर रह गया था।'

वह
मुझे
एकटक देखे जा रही है।
देखने में कई-कई प्रश्न हैं।
(बोलो, उत्तर दो। —मैना दबोचती है।)

और मैं बिलकुल निरुत्तर हूँ।
मगर,
तुम क्यों नहीं बोलती हो, माँ!
तुम्हें क्या हो गया है?

'जब कहीं से एक भी आवाज नहीं आ रही हो।
जानी-पहचानी। तुम्हारी बोली का सहारा ही
काफी होता है। कितनी मीठी होती है तुम्हारी मार भी।
दुनियाँ की प्रताड़ना से बचने के लिये।'

गौरैये की गर्दन धुक् धुक् कर रही है।
इसकी आँखों में, देखता हूँ, एक उजड़े हुए घोंसले का
चित्र उभर आया है।

जानता हूँ, इस तरह और अधिक देर तक नहीं बैठी
रह सकती। इसे अपनी बातों के उत्तर अभी चाहियें और मेरे
मुँह में जैसे जुबान नहीं।

लो, वो उड़ गयी।
तुम्हारे

चुप
पर
अपनी फरफराहट से
शायद कुछ लिख गयी ।

(उसकी बातें, हम समझें-न-समझें, मगर मैना समझती है ।
- - किसी एक अंगुली के लिये
कोई एक नन्हा हाथ और नन्हें हाथ के लिये
एक अंगुली कितना जरूरी है अंधेरे के जंगल को पार करने के लिये ।
—मैना साँस खींचकर बोलती है ।
पूछती है—बोलो, क्या बोलना चाहते हो ?)

'हर जगह
हर माँ के घर
एक चिराग का होना

ज्यादा जरूरी है
सुबह सूरज के निकलने से ।'
(क्या मतलब ?—मैना जैसे जिरह करना चाहती है ।)
मगर, किसी मैना की समझ में क्या आयेगा !

माँ,
आदमी का जख्म
कि
त
ना
अ
ल
ग
है
चिरई-चुरूंग से
शीत

और
धूप
और
हवा
और
खुश-बू से।
(हुं। —मैना मुँह बिचकाती है।)

माँ,
किसी के मुंह बिचकाने से
क्या मैं तुमसे बातें भी नहीं कर सकता!

इन्द्रधनुष के साथ
तुम्हारी
अगुली
पकड़कर
धरती को नापने में

तुम्हारी
उठी
हुई
भौंहों
के
ड
र
से
धूप-छाँव की चादर को रौंदते हुए भागने में कितना सुख था,
कि दुःख मुझे निगल नहीं सकता था।
और फाके का दिन भी
(मेरे लिये) देवता का प्रसाद था!

हर रोज सुबह
सरज को
मेरे साथ कर देती थी,

दिन भर खेलने-कूदने के लिये।

रात होने पर
आसमान को ही
उतार लेती थी

आँगन में,

मुझसे बोलने-बतियाने
और कहानी कहने के लिये।

फिर भी, जब ज़िद पूरी नहीं होती थी,
हार-पार कर

भकौवाँ को हंकाती थी।

और
मैं
सिमट कर
सो जाता था।

सुबह, फिर, मेरा मुँह ही देखने उठती थी
और दिन का काम-काज मेरा मुँह धोने से शुरू करती थी।

तब मैं बच्चा था।
और कुछ नहीं समझता था।

मगर तुम्हारे रोयें का दुखना भी
मुझे

देर-देर तक जगाता था।

'तुम्हारे प्यार में।
कितने समन्दर!

हाय में।
कितने ज्वालामुखी थे!

—आज समझता हूँ।'

और अब
ऐसा बहुत कम लगता है,
कि कहीं
तुम हो
मैं हूँ
और
ह
मा
रे
बो
च

अन्नू भी है।
(उसके फूल हैं।)

'अन्नू (अन्नू के नाम पर मैना कान खड़ा कर लेती है)
जो अंचरा में
दीया छुपाकर
चलते समय
दीये की लौ से भी खूबसूरत लगती थी।

और
जब
वर्षा में कभी

ओरियान के नीचे नहाते
(झटके)
दीख जाती थी,
उसके सामने
चांदनी में नहाता हुआ निर्झर
मात खा गया सा लगता था।

(मैना यहाँ चुप है। आँखों में देखता हूँ, ईर्ष्या का रंग उभर आया है।)

मेरा प्यार
सुबह सूरज की बराबरी में खिलने वाले
गुलाब से
तब कहीं ज्यादा सुर्ख हो जाता था।
और हजार-हजार कमल-स्पर्शों से पुलकित
मेरी कल्पना
एक सदेह स्पर्श की मधुर अनुभूति में विलीन
हो जाती थी।

और फिर कुछ नहीं,

एक हलका-सा सकता होता था,
कि लाखों-लाख जुबानों से बोलने वाला दिन
लाखों-लाख दिलों से धड़कने वाली रात में बदल जाता था।'

माँ,
तब क्या था, कि मेरी पुतलियों की चमक
खामोशी की हजार-हजार पर्तों को छेदकर
तुम्हारी पुतलियों को छू लेती थी।

और
अपने फूल के रंग का
तुम्हें इतना भरोसा था,
कि उसके विहँसने के सामने

सारी दुनिया को
ठुकरा दिया करती थी।

देवी-देवता तक को भूलकर
मिठाई पहले मेरे मुँह में डाल देती थी
और
बाद में
डर कर
फिर मनौतियाँ मनाने लगती थी।
(मैना यहाँ चुप है। कुछ नहीं करती। ज़मीन पर कभी-कभी चोंच मार लेती है।)

और
आज
ऐसा फिर क्या हो गया है,

कि हमारे सामने आने में
रोशनी घबड़ाने लगती है,

तुम्हारी आँखों का मौन
मेरी किसी बात का उत्तर नहीं होता,

अन्नू के होठ काँप-काँप के रह जाते हैं,
कोई बात नहीं निकलती,

बच्चे

सामने पड़ने पर
ठिठक कर
अ
ल
ग
खड़े रह जाते हैं।
(इन बातों से मैना को जैसे कोई दिलचस्पी नहीं। ऊब-सी गयी है)

माँ,
मैंने आखिर क्या किया है,
कि वक्त इतना बे-रुख है ।

खामोश जल्लाद-सा
सारा दिन

अंधकार की ओर हांकता रहता है ।
(बड़ा सच-सच लगाये थे । यही रोना है । सच रोना नहीं
होता—मैना विरोध करती है ।)

आज से तीस साल पहले,
तुम्हारी आँखों की रोशनी
और बाबूजी के हाथ की लाठी
चुराकर बाहर निकल गया था,

(साथियों के साथ)
जान पर खेल कर

पुल उड़ाता
और लाईन उखाड़ता फिरता था,

सरकारी फाइलों, पुलिस स्टेशनों और शराब
की टंकियों में
आग लगाता चलता था,
(तो क्या हुआ—मैना सिर झटक कर बोलती है)

इसलिए नहीं,

कि घर का चिराग बुझा रहे
और तुम

अंधकार के सामने
हाथ बांध कर बैठी रहो ।

नहीं, नहीं, नहीं,
माँ,
नहीं ।
हमने लड़ाई लड़ी थी इस उम्मीद से

कि अपने वक्त के साथ अपना वतन भी आजाद होगा,
एक तुम्हारा ही नहीं, तुम्हारी जैसी लाख-लाख माताओं
का घर आंगन
एक जैसा आबाद होगा ।
(हाँ, हाँ,मैना चुप नहीं रह पाती ।)
रौशनी
ऊँची हवेलियों से उतर कर
चालों और झोंपड़ियों में भी पहुँचेगी ।

और रानी सिंगार करेगी
तो कानी की भी टिकुली चमकेगी ।
(ठीक है ।—मैना तह से आती है ।)

घर-घर का राजा बेटा
अपने सपनों के घोड़े पर चढ़ेगा,
बाबा
राजी-खुशी से
कभी ऊँट तो कभी हाथी बनेगा ।

हर बाबुल की रानी बिटिया
अपना जोड़ा-कंगना मांगेगी,
दरवाजे पर दुल्हा-राजा बारात लेकर आयेगा ।

सखियाँ

सुहाग के सपने से

अपनी आँखें आंजेंगी।
आंगन सगुन और झूमर और गीत और गाली से अलग
जायेगा।
(हां, हां, बहुत ठीक। मगर यह 'ठीक' तुम्हारा सच
नहीं है—मैना सम्हल कर बोलती है। सपना और सच
में अन्तर है)
आसमान
(हमारी मर्जी से)
वक्त पर
गरजेगा-बरसेगा,
और समन्दर के साथ-साथ धरती का सीना भी हुलसेगा।

नहीं मां, नहीं,
यह सब
सपना नहीं था,
सपना नहीं है।

मां
तुम सपना नहीं थी,
मैं सपना नहीं था।
तुम्हारा प्यारा सपना नहीं था।
सपना मेरा विश्वास नहीं था।

(सिर्फ रौशनी रौशनी नहीं थी—सपना थी। बोलो।—मैना पूछती है।
—यही बोलना चाहते हो?)

सिर्फ रौशनी रौशनी नहीं थी—
सपना थी!
मां,
मैंने कब कहा,

रौशनी रौशनी नहीं थी ।
रौशनी रौशनी नहीं है ।

रौशनी सपना नहीं, रौशनी होती है, मां ।

कभी-कभी
अंधेरा वैसे

मौका पाकर
'सूरज' ओढ़ लेता है ।
और सब कुछ 'रौशनी' नजर आने लगता है ।
लोग-बाग
देशव्यापी खुशहाली की तरंग में
बहते-बहते

जा
क
र
'अंधेरे की खाड़ी' में गिर जाते हैं ।

अपनी सही स्थिति का पता उन्हें
तब चलता है

जब
समन्दर की लहरें
दबोचने लगती हैं ।
और वे आसमान को आखिरी बार देखकर
दम
तोड़ देते हैं ।

(मैना गर्दन टेढ़ी कर भौंहें खींच लेती है ।)

—मगर, यह कोई बड़ी बात नहीं होती ।

लोगों का इस तरह दम तोड़ते जाना
कौम का मरना नहीं होता।

कौम

चोटी के अदाकारों के जादुई ड्रामे में
शरीक़ होने की गरज़ से

बची-खुची
साँस को
समेट कर

आज़ादी का जशन मनाने में लगी रहती है,

कि आजादी से साँस लेने के लिये
कही कोई जगह नहीं मिलती।'
(लोगों की हर जगह सरकारी हुई रहती है—मैना बीच ही में टपक पड़ती है।)
मां,
मैं इस मैना की बच्ची को गर्दन मरोड़ दूंगा।

(मां मेरी आँखों में देखती है।—बेटा, ये कौन है मैना?)

मैना।
कोई नहीं, कोई नहीं, माँ, कोई नहीं।

ये गौरैया फिर आ गई है, माँ।

इसका जोड़ा भी साथ है। कितने खुश हैं।
ये।

चोंच में
तिनका लिये आसमान को नाप आने में

इन्हें नया बल मिला है। और इन्होंने आसमान को
पा लिया है।

धरती पर भी, वैसे इनके लिए कोई रोक
नहीं। और ये आदमी से सुखी हैं।

(इनकी अपनी एक दृढ़ता है।—मैना चोंच से बायीं टांग को खुजलाते हुए कहती है।)

जबकि,
आदमी
आसमान को जीत कर
धरती पर

अपने आप से
हारने लगा है।

(उसने आसमान को जीता है, पाया नहीं। और अपना घर गंवा दिया है। —मैना फिर बोलती है।)

आदमी इतना बली होकर भी क्यों हारने लगता है, मां।
उसका घर क्यों उजड़ जाता है?

गौरैये
का
घौंसला

कल था।

आज उजड़ गया है,
और कल फिर बन जायेगा।

मगर, अपना पच्चीस साल में भी नहीं बनता है।

"यह सवाल आदमी से पूछो, माँ क्या बतायेगी ?"
"फिर तुम्हीं बताओ।"
"आदमी के सवाल का जवाब मैना नहीं होती।"
"फिर, मैना बीच में क्यों बोलती है ?"
"इसलिये कि आदमी समझे। अपनी सूरत देखने के पहले आईने को साफ कर लिया करे।"
"आईने से साफ तो तुम्हारी आँखें हैं।"—(मैं मैना पर उबलता हूँ।)
"मगर छोटी हैं।" (गौरैया चिहकती है। और उसका जोड़ा उसकी आंखों में बड़े प्यार से देखता है।)

मां, बाबूजी छियासी गर्मियों का ताप झेलकर पिछले साल चले गये। मौसम से उन्हें कभी ये शिकायत नहीं हुई, कि उसने एक गुलाब उनके लिये भी क्यों नहीं उगाया।

और
जिन्दगी
औ
र
मौत
की
कशमकश के बीच
ए
क
मे
री
आँ
खों
की
च
म
क

के
स
हा
रे
जब से तुम
उम्मेदी और नाउम्मेदी के बीच के संशय की
मद्धिम आँच के ऊपर रखे
अभाव के तावे पर
पइंचा के आटे की गीली रोटी की तरह लगातार पकती रही हो,

धरती ने
कम-से-कम चौवालिस-पैंतालिस बार
सूरज की परिक्रमा
जरूर कर ली होगी। मगर,

तुम्हारी आँखों की चमक वापस नहीं
लौटी।

'क्या यह मान लूं,
कि नैहर में जब तुम कजरी गाय की पीठ
सहलाती होगी,
उसके सोकना बछड़े के साथ खेलती होगी,
तुम्हारी आँखों की गर्मी के सामने
फूल की खुश-बू साँस रोककर ठहर नहीं जाती होगी ?'

खयाल है
यह तुम छिहत्तरवीं बरसात में भीगने जा रही हो।

और
अब
अधिक दिन तक नहीं चल सकोगी।

कभी भी
एक दिन

बाबूजी की तरह चल दोगी।

और तुम्हारी आँखों का यह अंधकार
तुम्हारी अर्थी के साथ-साथ जायेगा।
मगर, तुम्हारे साथ जलेगा नहीं।
चिता में
आग लगने के पहले ही फाँद कर मेरे
कंधे पर चढ़ जायेगा और·····
(च् च् च्।—मैना करती है।—बड़े भोले बनते हो। फिर, आदमी किस बात का बनते हो?)

माँ, बड़ा कठिन है समझना।

देखो,

इस गौरैये की आँखें कितनी गहरी हैं।

'कि पूरी झील समायी हुई है।

झील के निर्मल जल में

एक बस्ती
साफ दिखायी पड़ रही है।
बस्ती सोयी है
या फिर किसी अज्ञात भय से सर्द पड़ गयी है।
(बाहर चारों ओर से कार्डोनिंग है।—मैना धीरे से कहती है।)

कुछ नये पौधे

सर उठाकर चलने के जुर्म में
बस्ती से निकाल कर

बाहर सड़क पर कतार में खड़े कर दिये गये हैं ।

और वहाँ
उस किनारे
खड़े लैम्पपोस्टों से
उनके खिलाफ गवाही देने को कहा गया था ।

मगर, वे तैयार नहीं हुए ।

उनके शरीर में 'करेंट' दौड़ाया गया
फिर भी, वे चुप रहे ।'
(अब उनकी आँखें फोड़ कर अलग रख दी गयी हैं
—मैना कुछ नरम पड़कर कहती है ।)
'पौधों से अपना जुर्म याद करने को कहा जा रहा है,
और वे याद कर रहे हैं ।

उन्हें कुछ भी याद नहीं आ रहा
सिवा इसके,

कि एक दिन चौराहे पर कुछ देर खड़ा रह गये थे,

डूबते हुए दिन को देखकर जरा मुस्कराये थे ।

और हवा जो यूँ ही भटक रही थी
उसे रोक कर

साथ चलने के लिये कह रहे थे ।
उनका इरादा
चाँद के सामने
फूलबाड़ी की खुश-बू आपस में बाँट-चुट कर

मिले-जुले स्वर में
सिर्फ एक गज़ल गाने का था ।'

(चलती-फिरती कचहरी अपना फैसला लिख चुकी है।)

'उनके

शरीर से
अब कपड़े उतार लिये गये हैं।

हाथ
पीछे की ओर
पेड से
बधे हुए है।

वे
पीछे छूट गये पुराने पेड़ों को याद करते हुए
जबड़ों को कस लेते हैं।

तारों को देखते हुए
अपने हरे-हरे पत्तों को गिनते हैं

जो एक-एक कर जमीन पर चू जाते हैं।

उन्हें गोली मार दो जाती है।

इधर हैरत से पथराये हुए तालाब का जल हिल जाता है। और उधर नीड़ों में सोये हुए पंछी फड़फड़ा कर चें-चें करने लगते हैं।'

"और उनके बीच
कुछ सिर-फिरे और थे
जो बहुत दुस्साहसी थे।"
(मैना बात की एक कड़ी और जोड़ती है।)
"वे सब
पुलिस के साथ मुकाबले में

मारे गये ।
उनके पास से
गन और रिवाल्वर और कारतूस
बरामद हुए ।
और कुछ एक के थैलों से बम भी निकले थे ।"
('झूठ' ।—मैना का स्वर कुछ तीखा हो जाता है । उनके थैलो में साबुन थे ! पाउडर के डिब्बे थे । काजल की डिबिया थी । कुछ में बिस्कुट के पैकेट और प्लास्टिक के खिलौने थे । वे ससुराल जा रहे थे या कहीं से घर लौट रहे थे ।—मैना साँस लेकर बात को बढ़ाती है—माना, कि रोके जाने पर उन्होंने पुलिस को ललकारा था । मगर उनके झोलों से बम नहीं निकले थे···नहीं···नहीं···नहीं निकले थे ··)

"क्या ! ···बम फिर पुलिस ने रखे थे ?
बाप रे बाप । ऐसा कभी नहीं हो सकता ।
यह झूठ है ।

ऐसा कहने वाला जिन्दा जला दिया जायेगा ।"

('डरते हो ?'—मैना हावी हो जाती है ।)

"नहीं, नहीं,
यह कैसे हो सकता है ?

अखबार ऐसा नहीं बोलता है ।

और सरकारी बयान कभी गलत नहीं होता ।
सरकार जो बोलती है अखबार वही बोलता है ।"

'सरकार क्या बोलती है ?'—मैना पूछती है ।
"शादी का जोड़ा

एक जगह चढ़ता है
और हजार-हजार
(डालियाँ)

बे-वसन रह जाती है।
—सरकार बोलती है ?"

"अखबार को मालूम है ?
—एक कुंवारी नाक को सजाने के लिये
गाजा-बाजा बजता है,

और उधर हजार नथियायें उतार ली
जाती हैं।"

"क्या सरकार नहीं देखती ?
—पीपल

एक किनारे खड़ा

कांपता रहता है।

और गांछे नंगी कर दी जाती हैं।

अंधकार के सामने
उनका
कोई वश नहीं चलता।

और वे
शर्म से
खुदकुशी कर लेती हैं।"

"—बड़े घरों के ड्राइंग रूमों को
सजाने के लिये
फूलों की चमड़ी उतार ली जाती है।

इस डर से छिपती फिरती हैं, कि उनके पंख
कतर कर पर्दे में नहीं लगा दिये जाय।
अब तितलियों के पंख पर्दा के काम
आने लगे हैं।

—अखबार इस पर क्यों चुप रहता है ?
—पुलिस को इन मुजरिमों का पता है ?
—पुलिस क्या कर रही है ?"

(मैना की सांस यहाँ टूट जाती है। इधर-उधर आँखों से आग बरसाती हुई देखती है। और 'यह सच है—सच नहीं है के बीच बंटा हुआ मैं माँ की आँखों में देखता हूँ। माँ अभी भी चुप है। फिर, दम लेकर, मैना ही बोलती है।)

"सरकार जनता है। और जनता
सब कुछ नहीं बोलती। बोलती

घाटियां हैं। घाटियों के पेड़
बोलते हैं, जहाँ जनता चुप रहती है।

चंबल घाटी का
आत्म-समर्पण

मुल्क की
बची-खुची
नैतिकता का

आत्म-समर्पण है।
म
ग
र

ऊंचे लोग
खुश हैं।
और कठपुतली का नाच जोरों पर है।

एक
टि
टि
ह
री
प
हा
ड़
से
बोलती है और तराई भर को
टिटि
हरि
यां
उसे दुहराने लगती हैं—

(तरन्नुसम में)
टांग उठाकर
आसमान को थाम लेती हैं।

जंगल, फिर, इतना वाग-बाग हो जाता है,
कि दिशाओं तक का ज्ञान नहीं रहता।

और दक्षिण पवन उत्तर से चलने लग जाता है।"
(मैना काफी समझदार हुई लगती है। तह में उतर कर बातें करती है। मैं उसकी आंखों में विश्वास खोजने लगता हूँ, कि फिर जैसे कोड़े लगाती हुई बोलती है)

"रौशनी के दिलासे पर
माँ को अंधकार ओढ़ाकर

कब तक भुलाये रखोगे ?

—तुम्हारी मां अब कभी नहीं
बोलेगी।"
"क्या ?"

"सच को नहीं देखना, नहीं बोलना भी
राज-दरबार के झूठ के नाटक में शरीक होना
है।

तुम

अलग कहां हो ?"

"मैं"।

नहीं मां, नहीं। मैं उस नाटक में
शरीक नहीं हो सकता। एक मामूली
आदमी इतना बडा नाटक नहीं खेल
सकता। मुझे अपनी मामूलियत का पता
है।

"मैं"
अकेले
घर में
'उसे' सामने बैठाकर

दीये की धीमी लौ में
देखना—महसूस करना चाहता हूँ।

और दीये में तेल नहीं रहता।

बच्चों के लिये
एक छोटा-सा आसमान, दो डेग धरती

चाहता हूँ,

कहीं खाली नहीं।
हर जगह,
'आरक्षित'
या फिर
'सावधान, खतरा है'

लगा हुआ है।

कोई एक फूल तोड़कर
बच्ची को देना चाहता हूँ,
'तोड़ना मना है।'

—कितने दिन हुए,
बच्चों को उनकी माँ को मुझसे बोले,
तितलियों को मेरे कन्धे पर आकर बैठे।
माँ, कुछ तो बोलो। इस फासले, इस मौन को
तोड़ो।

मैंने सिर्फ रोटी का सवाल किया था,
और मुझे पत्थर दिया गया।

सभ्यता का खयाल कर
नग्नता से

बचने के लिये

कहीं से दो गज कपड़ा उठा लिया था,
और मुझे मुजरिम करार दे दिया गया।

सभ्यता नग्नता तो नहीं है, माँ !
फिर क्या है ?

"फिर, क्या है ?" (मैना दुहराती है।)

"क्या है ?"
"भूख और नग्नता सभ्यता की पहली अनिवार्यता है।"
"पागल हो।"
"पागल मैं नहीं, तुम हो। नाटक जानते हो ?"
"नाटक ? नहीं।"
"नाच ?"
"नहीं।"
"गाना ?"
"नहीं।"
"फिर, क्या आता है। टहनियों के कपड़े उतार सकते हो ?"
"नहीं।"
"फूलों का मुँह·····"
"नहीं, नहीं, नहीं, मैं फूलों का मुँह बंद नहीं कर सकता।"
"फिर, मरो !"—(मैना झुँझलाती है।)
"मेरी माँ···अन्नू···बिन्नू···बिटो···
नहीं, नहीं, नहीं···मैं नहीं मरूँगा।"
"डरते हो, मरने से ?" (मैना चिढ़कर प्रश्न करती है।)
"नहीं। मुझे जिन्दगी प्यारी है।"
"झूठ !"
"नहीं, यह सच है।"
"जिन्दगी के लिये, प्यार के लिये तुम मर नहीं सकते।
—मार सकते हो ?" (मैना मुझे घेरने की कोशिश करती है।)
"किसको ?"
"किसी को भी ?
"किसी को भी !"
"सब झूठ है—तुम, तुम्हारी जिन्दगी, तुम्हारा प्यार !"
(मैना उबल पड़ती है।)

नहीं माँ, नहीं। इसमें झूठ कुछ भी नहीं।

व्यवस्था भी आखिर कोई चीज है ।
मुल्क में न्याय नहीं होता, ऐसा नहीं
कहा जा सकता ।

बिन्नू के सिपाही ने
बिट्टो के गुड्डे की टांग तोड़ दी है । और वो
कोर्ट जाना चाहती है ।

"ले जाओ ।" (मैना ताना मारती है ।)

मालूम है ?

सुप्रीम कोर्ट भी अब
साधारण सवालों को छोड़कर
कुछ असाधारण—बहुत जरूरी सवालों को
लेने लगा है । यानी गेहूँ और चावल और
चीनी का दाम निर्धारित करने लगा है ।
और जो सवाल और भी ज्यादा जरूरी और
कुछ खास किस्म के हैं, कल उसका ध्यान खींचेंगे

यानी मुर्गी के अंडे और जूड़े के फूल
अपना दाम और उपभोग निर्धारित कराने के लिये
उसके सामने पहुँचेंगे ।
फिर, चीनी और अंडे और जूड़े के फूल का दाम
निर्धारित करने वाले कोर्ट में दिमाग बेचकर बैठा
हुआ भगवान
तुम्हारी बिट्टो की सुनवायी करने का समय नहीं
पायेगा ।
अपनी बिट्टो की इस उपेक्षा का बदला लेने के लिये
तुम
उस कोर्ट में आग लगा सकते हो ?"
(मैना के इस प्रश्न पर मै अवाक् रह जाता हूँ । कभी माँ के मुँह

पर और कभी बिट्टो की आँखों में देखता हूँ। मैना की आँखें मुझ पर गड़ी हुई हैं।)

सूरज सच होता है, माँ।
सच उसका चमकना भी होता है।

झूठ
सिर्फ हम
और हमारे वायदे होते हैं।

'झूठ' होने के लिये,
वायदा खिलाफी के लिये फिर क्या होता है, माँ?

क्या होता है,

जब कहा जाता है, अकाल नहीं पड़ा है।
और फूल अपनी हड्डियों में समाते चले जाते हैं।
(गौरैया फिर सामने आ गयी है। आँखों में आग जल रही है। मैना संकेत करती है और मेरी नजर उसके घोंसले पर जाती है···)

गौरैया का घोंसला
फिर उजड़ गया है, मां।
इस बार बिलकुल उजड़ गया है।

और

पास के
जंगल में

आग लग गयी है।
(मैं मैना को और मैना मुझको देखती है। सोचता हूँ···)

'फिर भी,
गौरैया दम नहीं लेगी। दूर तक छान मारेगी।

रास्ते में
सुदूर जंगल का पता लेकर लौटता हुआ
उसका जोड़ा
मिल जायेगा।
और वो उसके साथ फिर लौट आयेगी।
फिर, नया घोंसला बनेगा।

निरापद,
बीच में बच्चा ले, जोड़े से
चोंच सटाकर सोयेगी।

सुबह
दाना लाकर बच्चे की चोंच में
आहिस्ते-आहिस्ते
डालेगी। और

एक गर्मी महसूस कर
क्षण भर के लिये आँखें
मूंद लेगी।

जगेगी,
फिर जब उसका जोड़ा आकर
चोंच पर चोंच धर देगा।

और घोंसला
नींद में सुगबुगायेगा।'

(मैना कुछ नहीं बोलती है और मेरी नजर
मुझे खींच ले जाती है बड़े नगर से दूर, बहुत दूर, जहाँ'')

एक जंगल
और जंगल के बीच

एक बस्ती है।

(बस्ती के लोगों से कभी-कभी मेरी भी छनती है।)

जंगल के जीव-जन्तु और बस्ती के लोग
अन्धकार से लड़ने के लिये
एकजुट हैं।
और एकजुट
फिर रौशनी को बाँटने के लिये भी हो जायेंगे।

मुझे उनके सपनों से अधिक उनकी भूख का
भरोसा है।

(गौरैया चली गयी है। माँ जैसे-के-तैसे है)
और अंधकार मेरे सामने आकर खड़ा हो जाता है।)

'बीज
जब,
आँख फोड़ेगा,
रौशनी को चूमकर रहेगा।
धरती

और धूप और
शीत

और वर्षा
और हवा और
खुश-बू
सब उसकी हो जायेंगी।'

(देखा, माँ तुम्हारी कुछ नहीं बोलती है—कुछ नहीं। तुम्हारी भूख और बेकारी का उस पर कोई असर नहीं पड़ा है।—मैना

बोलती है और कुछ नहीं करती और लगता है मेरी गर्दन रेत रही है।)

'सवाल यह नहीं है,
कि,
मैं भूखा हूं,
बेकाम कर दिया गया हूं,
और इसीलिये गुस्ताख हूँ
व्यवस्था की नजर में,
अन्नू के लिये मुस्कान
और बिन्नू के लिये बैलून,
बिट्टो के लिये
गुड्डा और मां के लिये
एक सूरज
लाने में परेशान रहने के कारण,

शान्ति भंग का मुज़रिम हूँ।

सवाल यह है,
कि किसी से प्यार करता हूँ, प्यार करते हुए
जिन्दा रहना चाहता हूँ।
जबकि,
आदमी के—प्यार के—
प्यार के तमाम सारे रिश्तों के तमाम सारे रास्ते

बंद हो चुके हैं।
और सत्ता के खौफनाक कुचक्र के सामने
आदमी की
(सीधी-सादी)
जुबान की शक्ति
शिकस्त खाने लगी है।'
(मेरी सारी कोशिशें उसे भाषा की जगह अब बन्दूक थम्हा देने की हैं।)

थर

●

सोने का अपना देश
मिट्टी की भाषा समझने में लगा है
और मिट्टी उसकी मुक्ति का पैगाम बनी हुई है।

मगर वही मिट्टी आज शांत है;
उसमें कोयला है सोना है
लोहा और तांबा और चांदी और पीतल है—
और भी जाने क्या-क्या और कितना है!
श्रम से सख्त हुए करोड़ों हाथों की लाली है,
लहू-लुहान कदमों की गर्मी है,
नियति से लोहा लेती आंखों की कौंध
और धड़कनों की रफ्तार है
कई-कई प्रश्नों के स्वप्न
और फिर मुक्ति-संकल्पों के ऊर्जा-विस्फोट हैं।
मिट्टी, फिर भी, आज शाँत है।

इस तरह और इतनी शांत
यह मिट्टी पहले कभी नहीं थी।
पहले कभी ऐसा नहीं हुआ था
कि थर के रेत-विस्तार को नापती हुई आँखें
रेत की मरघटी शांति या फिर तूफानी झोकों में ही
खो गई हों,
वहाँ कुल्लू-कश्मीर से लेकर दूर फैले मैदानों तक की जिन्दगी भी
नहीं आ गयी हो।

किन्तु आज यह थर सिर्फ थर है।
इसके भीतर की वह नदी सो गयी लगती है
जिसके साथ मिल कर सिंधु, गंगा, गोदावरी और पद्मा
कभी जीवन-संघर्ष का संगीत रचती थीं,
जिससे मिलने को राइन, थेम्स और मिसिसिपी आदि
तरसती रहती थीं—
और नील, कांगो तथा आमेजन से लेकर
वोल्गा और ह्वांग-हो तक में
गजब की एक बेताबी थी।

आज भीतर की वह नदी बिल्कुल सो गयी लगती है।

थर के इस चौड़े मजबूत सोने के चढ़ाव-उतार पर,
युद्ध-भूमि में बिखरे पड़े सैनिक कैम्पों की तरह,
हजारों-हजार टीले और यहाँ-वहाँ बेतरतीब उभर आये झाड-झंखार
उसका गर्म स्पर्श पाकर पंक्तिबद्ध हो जाते थे।
और रेत-विस्तार तक के जीवनोल्लास में बदल जाने में
कोई देर नहीं लगती थी।
द्वन्द्वमय घेरे को लांघ कर
आसमान की ऊँचाइयाँ-गहराइयाँ नापने के लिए
उन्हें किसी सूरज या चाँद की जरूरत नहीं पड़ती थी।
उसके लिए उनके अन्दर प्रज्ज्वलित हजार-हजार ऊर्जा-भट्टियों का
ताप ही पर्याप्त था।

किंतु आज वह सब कुछ बदल गया लगता है।
पश्चिम एक्सप्रेस के शेष संसार से कट कर
मैं अकेले इसका कारण जानने के पीछे दौड़ता हूँ
और थर का गहरा सन्नाटा मुझे अपने आगोश में ले लेता है।
चाँद एक हलकी सफेद चादर में सिकुड गया है
और उसकी भाषा
छद्म पर खड़ी किसी सत्ता के झूठे आश्वासनों

और प्रचार-माध्यमों की तरह
निरर्थक हो गयी है—
उसकी रोशनी में
थर की पेशानियों पर उभर आयी जटिल रेखाओं को
नहीं पढ़ा जा सकता।
हार कर फिर मैं तारों की ओर देखता हूँ
और वे उसी तरह मुसकाते रहते हैं।

हजार-हजार ऊर्जा-भट्टियों को खुराक पहुचाते रहने वाली
थर की वह भीतरी नदी क्या सचमुच सो गई है ?
सूरज और चाँद और तारों से—
रेत की गर्म रफ्तार और शीत लहरी से
क्या सचमुच उसका कोई सम्बन्ध नहीं रह गया है ?
सचमुच क्या थर के टीलों और झाड़-झखारों से···
उसकी सर्पीली लहरों
और हमबद्ध हो जाने की जरूरत और तात्कालिकता महसूस कर रही
गुमशुदा वीरानियों—वीरानियों की खामोश बेचैनियों से
उसका संवाद टूट गया है ?

उत्तर कहाँ है...कौन देगा ?

मैंने अपनी धरती के इस कोने से उस कोने तक छान मारा है—
आदमी की कौन कहे, दरख्त-दर-दरख्त—
पत्ता-पत्ता
यहाँ तक कि एक-एक कण को झकझोर कर जगाया
और जगा कर पूछा है।
मगर उसके पास कोई भाषा नहीं रह गयी है।
उनके चेहरों पर
और आंखों में
एक गहरा शून्य है।

वह शून्य भी फिर क्या है ?
शून्य ही है या शून्य के अलावे कुछ और है ?
वह क्या किसी भावी मगर अवश्यंभावी विस्फोट का
नाभि-केंद्र भी हो सकता है ?
इस उलझन में नींद कहीं खो गयी है।

(आदमी का अकेले जागते रहना भी कभी-कभी कितना विषम संकट
हो जाता है।)

कोई मादा अजगर
जैसे किसी टीले को अपनी कुंडली में समेट कर
बे-भरम पड़ी है।
और टीले के जीव-जन्तु
दहशत से
चुप हैं :
पत्ता तक नहीं डोलता
और टीला रोशनी के उतरते ही आतंक से आँखें मूंद कर
पड़ा रह जाता है।
यह वहशी अन्धकार का चरम है

मैं थर की सपनाती हुई ऊर्ध्वमुखी गहराइयों में उतर कर
उस नदी के समीप पहुँचना हूँ।
नदी सोयी हुई नहीं है।
उसके जल-स्तर को ऊपर लाने के लिए
सिर्फ एक विस्फोट की जरूरत है।

दुर्द्धर्ष द्वन्द्व के इस मुकाम पर पहुँच कर
चाँद झपकी लेते-लेते सो गया है।
और सूरज का दूर-दूर तक कोई पता नहीं।
ऊपर तारे हैं थके-थके से,
फिर भी, मुझे देखकर अभी उसी तरह मुसका रहे हैं।

आदमी तो नहीं बोलता—
(कभी-कभी ऐसा भी होता है)
एक अंधेरा है जिसकी जीभ लपलपाती रहती है
और फुफकार
अपने बीच फैले पड़े सन्नाटे को
यहां से वहां तक बीच से चीर जाती है
कुछ इस तरह कि आसमान भी स्तब्ध हो गया रहता है।
फिर,
लोहा यदि चमके
और बारूद अपना मुंह खोले,
तो कोई उत्तर भी बोले !
—और मिट्टी साथ दे !

मिट्टी का लाल रंग
कितना गर्म और गहरा होता है।
यहां तक कि सूरज भी उसमें अपना मुंह देखने के लिए
अधीर हो उठता है।

सूरज में बहुत ज्यादा ताप है
ताप में चमक और चमक में
जिन्दगी का लाल-लाल रंग है।
(सूरज सिर्फ मुर्दे को जलाता है।)

वह देखो,
चांद की मैली चादर को हटा कर
किस मशाल का हाथ इधर बढ़ा आ रहा है !
कैसे वह हाथ अकेले नहीं बल्कि लाखों-लाख हाथों की
पंक्तिबद्ध सेना में बदलता जा रहा है
और वे टीले—वे झाड़-झंखार सबके सब
किस तरह एक बारगी जगकर
उस बड़ी सेना में मिल गये-से लगते हैं।

सारा-का-सारा थर जाग उठा—है उसके सीने का उतार-चढ़ाव
लंबी कूच के पड़ाव-स्थलों में बदल गया है।
और अंधकार देखते-देखते लापता हो गया है
उसकी फुफकार
उजाले के बढ़ते आ रहे दृढ़ कदमों के नीचे
सो गयी है।
थर के सिरहाने से
लाल सूरज अभी बीता भर ही ऊपर उठ पाया है
कि मिट्टी फिर अपने लाल रंग में चमकने लगी है।
और जो अकेला आदमी नहीं बोल सकता
उसे थर के इस हमबद्ध अनुशासन का सामरिक रंग
बोलने लगा है।
जबकि थर सिर्फ थर है,
और आदमी उससे कई गुना बड़ा और बलवान है।
अपना उत्तर पाना उसके लिए कोई कठिन काम नहीं;
जरूरत हमबद्ध अनुशासन में खड़ा होकर
सिर-से-पांव तक मिट्टी के रंग में सिर्फ रंग जाने की है
(अंधकार का झूठ उजाले के सच से कभी बड़ा नहीं होता।)
मैंने समन्दर के विस्तार को
नदी की बाँहों में सिमटते देखा है
और जहाँ टार्च फेल कर गया है,
अलाव की आग से काम लिया है।
मेरे घर का दीया
अकेले जितना घर में उजाला करता है,
उससे लाख ज्यादा उजाला
अड़ोस-पड़ोस के दीपों से मिलकर करने लगता है।
और तब तेल भी खत्म होने पर नहीं आता!

गांव

गाड़ी से मेरा संवाद इस बार भी नहीं चल सका।
उसे छोड़ कर
अब मैं गाँव के रास्ते पर हूँ।
रात काफी ढल चुकी है।
और अंधेरे की चादर गझिनाती जा रही है
फिर भी, मुझे जाना है।
अकेले हुआ तो क्या, जाना ही है।
मुझे मेरा गाँव बुला रहा है!
सालों कटे और बहुत दूर रहने के कारण
मुमकिन है मेरी पहचान बिगड़ गयी हो!
मुमकिन यह भी है, कि खुद गांव से ही मुझे पहचानने में
कोई गलती हो जाय!
फिर भी मुझे जाना है।
मेरे कदम
काँट-कुस
कीचड़-कंकड़
और डुबांव अंधेरे को रौंदते हुए
लगातार गाँव की ओर बढ़ते जा रहे हैं।
मेरा गाँव मुझे बुला रहा है।

साँप और बिच्छू रास्ते से हट गये-से लगते हैं।
बादलों के छंट जाने से अंधेरा गहरा हो गया है।
आसमान तारों से जगमगा रहा है,
मगर इस अंधेरे पर उसका कोई असर नहीं।
मैंने

कदमों के नीचे आने वाली जमीन का अपनापन महसूस करने के लिए
उसकी ओर देखना छोड़ दिया है ।
अंधेरे से मुझे कोई खौफ नहीं ।
(खौफ जो है अपने सफेद कपड़ों से है !)
उसे मात देकर अततः अपना बना लेने की मेरी कोशिश
निरंतन जारी है ।
जिस सूरज का अपने लोगों को इतना-इतना इंतजार है,
जानता हूँ,
वह इसी अंधेरे की मुट्ठी में कैद है ।

यह अँधेरा मुझे गांव तक ले जाएगा ।
गाँव के किनारे मेरा घर होगा—और उस घर के अंदर
एक ओर अंधेरा होगा ।
यह अंधेरा मेरी बाँह पकड़ कर मुझे उस अंधेरे से मिला देगा ।
और वह अंधेरा फिर
हजार-हजार घरों में अलग-अलग खड़े अंधेरों से
मुझे तब तक मिलता फिरेगा
जब तक पौ न फटने लगे ।

तड़के उठ कर
मैं
(घर वालों से बाद में)
पहले मोहल्ले-मोहल्ले की गली-गली से मिलूँगा ।
उन गलियों में
खुलने वाले दरवाजों से निकल रहे
चेहरों से चेहरा मिलाता हुआ
गाँव का चप्पा-चप्पा धांग जाऊँगा ।
और धरती मेरे तलुए में कहीं-कहीं चुभेगी,
जबकि मेरी आँखों की रोशनी
वहाँ अलग-अलग नामों से खड़े घरों की सरहदों—
उनकी ऊँचाइयों और नीचाइयों से घायल हुई रहेगी ।

सूरज स्वयं डूब कर भी मुझे उबार नहीं पाएगा—
फिर, यही अंधेरा एक बार फिर प्रकट होगा,
हालाँकि इस बार कुछ खुला-खुला रहेगा,
और मेरा हाथ पकड़ कर आगे बढ़ जाएगा।

जानता हूँ, कोई भी अंधेरा हमारा विकल्प नहीं हो सकता,
न ही हमारी नियति उससे अपना आईना मांगने जाएगी।
फिर भी, मेरा निर्णय इस अंधेरे से भिड़े रहने का है।
गाँव पहुंचने
और हुआ तो वहाँ से और आगे जाने के लिए।
दूसरा कोई उपाय नहीं—
लहूलुहान होकर भी इसे नहीं छोड़ूंगा।
इसे रौंदते हुए चलूं या इसका हाथ पकड़ कर,
इसके लिए अभी कोई फर्क नहीं पड़ता।
(यह बहुत बड़े दाव पर है।
फिलहाल यह मुझे गाँव पहुँचाएगा)
और मेरे लिए इतना ही काफी होगा।
मैं इस अंधेरे के साथ होकर
अन्य कई अंधेरों को पहचानते हुए
निरंतर गाँव के करीब पहुंच रहा हूँ।
मेरी आखें आसमान पर नहीं,
तारों पर नहीं,
कल उगनेवाले सूरज पर नहीं,
अपने गाँव पर हैं।
मुझे मेरा गाँव बुला रहा है।

टापा-पर-टापा पार करते हुए
सिवान पर पहुँच आया था।
गाँव नींद में था,
नींद में पूरा-का-पूरा जवार था।
मगर सिवान की आँखों में नींद नहीं थी।
जिस भुतहा बंगला पर पहुँचते-पहुँचते

दिन में भी कंपकपी छुट जाती थी,
वह सिर्फ कुछ टीलों में सिमट कर रह गया था।
इधर-उधर झाड़-झंखार खड़े थे।
बीच में कहीं-कहीं रेह भी उभर आयी थी।
मुझे बीचों-बीच से गुजरना था।

सबसे पहले
सामने खड़े पीपल ने
दूर ही से पत्तों को हरहरा कर मेरा स्वागत किया था
फिर कहीं छिपे बैठे उल्लू ने भी कँहर कर
अपने जगे रहने का सबूत दिया था।
इसके बाद ढेर सारे बेंग
उछल कूदकर अपना भय प्रकट करने लगे थे।
और कुछ डोंड थे
जो रास्ता छोड़ सरसराते हुए खेतों में उतर गये थे।
और कुछ नहीं हुआ था।
गाँव पहुँचने का हुलास इतना तगड़ा था
कि मेरे लिए यह सब
कुछ नहीं था।
मैंने अंधेरे के हाथ को और कस कर पकड़ लिया था
और वह चुपचाप बढ़ा जा रहा था।
कि मुझे कुछ खटका हुआ
और मैंने पाया,
कि सिवान ने सहसा अपने कान खड़े कर लिये हैं।
दूसरी साँस में
मैं तने हुए भालों
और मुंह खोलने को तैयार बंदूकों के सामने खड़ा था।
'कौन हैं ?' का उत्तर मैं क्या देता !
मगर 'कहाँ जा रहे हो ?' का उत्तर मैंने दिया।
फिर पूछा गया—"अंधेरे में चलने से पहले कुछ सोचा नहीं ?'
"अंधेरे में चलने वाला अंधेरे से नहीं डरता।" मेरा उत्तर था।

इस तरह का मुकाबला यह पहला नहीं था,
इसी रास्ते पर एक बार और हुआ था ।
और मैं इसी तरह तना-का-तना खड़ा रह गया था ।
फर्क सिर्फ इतना था
कि उस बार वे अपने मुँह पर कपड़े देकर
टार्च की रोशनी मेरे मुँह पर डाल रहे थे ।
और इस बार वे सब-के-सब खुले में थे—
उनके टार्च की रोशनी मेरे मुँह पर पड़ रही थी
तो वे भी अंधेरे में नहीं थे ।
बात-बात में यह साफ हो गया था
कि मैं बड़े खंदान का हूँ ।
मगर उन्हें यह समझते देर नहीं लगी
कि मैं खुद अब 'बडा' नहीं रह गया हूँ,
रोशनी ने मेरे साथ भी छल किया है ।
मेरे हाथ भी भाले और बन्दूक उठा सकते हैं,
और जिस तरह अपना नाम और ठिकाना खोजने के लिए
आज वे लामबंद हुए हैं,
उसी तरह और उसी लामबंदी में मैं भी शामिल हूँ ।
मैंने देखा,
अंधेरे का सीना
एक अनचीन्हे अहसास से कुछ उभर आया था
और वह इस बार बड़े इत्मीनान से मुसुका रहा था
और हालाकि मैं उससे किसी समझौते के लिए तैयार नहीं था,
मगर उसने मुझे उन भालों और बंदूकों के सामने खड़ा कर
उनकी आँखों की चमक कुछ ज्यादा कर दी थी ।
मेरा ध्यान उस पर से ज्यादा
सूरज को अपने में कैद किये हुई उसकी मुट्ठी पर था ।
मुझे मेरा गाँव बुला रहा था ।
और मेरे सामने
सबसे पहला
और सबसे बड़ा सवाल यही था ।

सुबह से ही मेरा रंगउड़ा हुआ है ।
माँ की आँखों में अट्टहास करता हुआ यह उजाड़ मेरा गांव है !
यह चुप—यह खण्डहर मेरा गाँव है !
घर के पीछे
अपने दिन गिनता हुआ यह बरगद—
दुअरा खड़ा सूखता जा रहा यह नीम मेरा गांव है !
ये बंद गलियाँ,
ये अंधे नुक्कड़,
ये गूंगे चौराहे—
ये ही सब मेरा गाँव हैं !
यह गीली धरती
यह बीमार भट्ठी,
यह औंधी पड़ी ठाकुरबाड़ी,
सलवार में पेवन लगाती हुई यह मस्जिद
मेरा गांव है !
यह मेरा गाँव उजड़ रहा है !
यह मेरा गाँव बस रहा है !
यह मेरा गांव मर रहा है !
यह मेरा गाँव जनम रहा है !
विश्वास नहीं होता, यह मेरा गाँव है !
मगर, यहाँ माँ है,
जमींदरवा बो है,
और जिरवा है,
यहाँ कुरबान मियाँ है,
हुसेन मियाँ हैं,
यहाँ बलिया और रतना और झेगटा है,
यहाँ तेनिया और रामगहना है,
भोलवा और अवधिया हैं,
बीतना और दसंइया है !
नहीं, मेरा गाँव यही है !
और मेरा यह गाँव जल रहा है !

गीली लकड़ी से
जुटाई गयी चिता से उठ रहे धुंएं की तरह
एक धुआँ धीरे-धीरे खौफनाक शक्ल अख्तियार करते हुए
ऊपर उठता जा रहा है,
और उसमें मेरा यह गाँव अपने खौलते आस-पास के साथ
धँसा जा रहा है !
मेरा गाँव धुएं में डूब रहा है।
मेरा गाँव धीरे-धीरे सुलग रहा है !
आज सूरज का इंतजार किये बगैर
मैं सीधे चमरटोली के लिए दौड़ा गया था।
चमरटोली से मेरा बहुत करीब का रिश्ता है।
वहाँ जमींदरवा बो चमइन है—
जमींदरवा बो ने मेरा 'नार' काटा था
और मेरे बड़े लड़के की नार-कटाई के लिए भी
उसे ही बुलाया गया था।
उसने अपने बेटे का मुँह दाब कर
अपनी छाती का दूध मुझे पिलाया था।
बचपन में
मुझे कई-कई बार डाँटा और दुलारा था।
और मेरी सलामती के लिए
माँ के साथ उसने भी कई-कई बार देवी-देवता को मनाया था।
गों-गों करते हुए सूअरों के बीच से
जब बथान पार कर मैं चमरटोली पहुँचा,
उसका घर खोजने में बहुत भटकना पड़ा था।
गलियाँ जगह-जगह से बंद मिली थीं—
बाज-बाज दरवाजों पर काँटे भी थरे थे।
आँगन ज्यादातर गायब थे—
कितने अलग-अलग तंग घरों या कोठरियों में बंट गये थे।
नाम सुन कर उसने उसे कुछ टटोलते हुए-से दुहराया था—
हाथ बढ़ा कर मुझे छूने की कोशिश की थी,
बड़ी मुश्किल से जमींदरवा बो के सामने पहुँचा भी
तो पहचाना नहीं जा सका था।

और छूकर महसूस किया था।
आखों ने उसका साथ बहुत पहले छोड़ दिया था,
मगर उसने तब पलकें उठा कर सूरज को समेटने की कोशिश की थी।
और जब कामयाब नहीं हो सकी,
बेटों के बिछोह में पानी हो गये खून की कुछ बूंदे गिरा कर
फिर भीतर-भीतर सुलग उठी थी।
उसका छोटा लड़का (माँ ने बताया था) मजदूरी की लड़ाई में
मार डाला गया था।
और बड़ा अपनी पियरिया की इज्जत बचाने के लिए
गाँव छोड़ कर भाग गया था।
जिस जमीन पर मैं जमींदरवा बो से सट कर खड़ा था
वह मुश्किल से हाथ-दो-हाथ में आती थी,
मगर दूर-दूर तक चली गयी थी—
वहाँ राजपूत और चमार का भेदभाव नहीं रह गया था।
और सबसे बड़ी बात यह थी,
(अंधेरे में हस्तक्षेप करते हुए बताया था)
कि जमींदरवा बो अकेले वहाँ नही थी—
आस-पास के कई-कई गाँवों में
इसी तरह अपनी आँखें खोकर बैठी हुई थी,
इसी तरह मैं उससे सट कर आ खड़ा हुआ था,
और इसी तरह वह मुझे देखने के लिए
अपनी पलकों से सूरज को समेट लाने की कोशिश कर रही थी—
कोशिश में नाकामयाब होकर अन्दर-अन्दर सुलग रही थी—
और उससे उठता हुआ धुआं
आग को जगह देकर
सूरज का रास्ता साफ करने में लगा था।
दौड़ा-दौड़ा मैं फिर जिरवा के पास भी गया था।
जिरवा थी, मगर उसका बेटा बीतना नहीं था।
बीतना ने क्या किया था, कोई नहीं जानता!
मगर बड़की दालान पर मार खाने के बाद
खून बोकर एक दिन मर गया था।

आने के लिए वैसे दरोगा तक आया था—
सुपेरिनटेंडेंट आ गया था। मगर कुछ नहीं हुआ था।
डाक्टर ने सर्टिफिकेट देने से इंकार कर दिया था,
जैसे गांव वालों ने गवाही देने से।
बीतना बो बेचारी छाती में घूंसा मार कर रह गयी थी।
जिरवा माँ के कपड़े धोती थी
अब बीतना बो धोती है।
बीतना बो के दो-दो बेटे हैं,
मगर दोनों के दोनों गदहा हाँक कर गायब रहते हैं।
जिरवा अब किसी से कुछ नही बोलती।
मगर बीतना बो जानती है, वे कहाँ
और किस फिराक में हैं।
धोबीघाट अब वह सिर्फ धोबिन कहाने के लिए जाती है।
जैसे रामगहना काता चलाता और सूप-दौरी करता है—
तेनिया के घर वाले मुसहर होने के नाते
कभी-कल बीया-बाल कर लेते हैं—
अवधिया दुसाध है तो हलवाही करता है,
अवधिया बो रोपनी-केरवनी कर लेती है—
बलिया और रतना और झेंगटा और भोलवा के घर वाले
अपना-अपना धंधा समेट कर मर-मजदूरी करते हैं—
दसइंया के बेटे गाय-भैंस खुले छोड़ कर
लामबन्दी करने में जवार-पथार एक किए रहते हैं।
ओर हाल अब यह है
कि कहीं कुछ नहीं होता, फिर भी सब कुछ होता रहता है।
मय हरवे-हथियार और गोला-बारूद के बावजूद
गाँव सही-साँझे दरवाज़ा बन्द कर लेता है—
गाँव में रात-रात भर सियारिन फेंकरती रहती है।
जब चाहे भूकम्प हो जाता है जब चाहे धरती फटती है—
देखते-देखते कहीं ब्रह्मलूक लगता है,
और खड़े-खड़े कोई घर मधुदुपहरिया में लहक उठता है।
और इस तरह यह गाँव

इस कोने से उस कोने तक धह-धह जलता रहता है !
जलता रहता है,
कि कहीं चंदवा रूपसपुर जलता है,
कहीं चवरी जलता है, कहीं मधुबन जलता है,
कहीं बेलछी और पिपरा जलता है !
और आसमान जब कभी भी बरसता है,
सिर्फ पेट्रोल छिड़कता है—
आग जहां नहीं लगी रहती वहाँ भी
धधक उठती है !
अँधेरा मेरा हाथ खींचकर आगे बढ़ने का इशारा करता है ।
और मैं उसे झटका देकर जहाँ जमा रह जाता हूँ,
वह मेरे गाँव का दूसरा सिवान है—
उसके एक बाजू पर बगेन है तो दूसरे पर बनजरिया ।
आगे शिवपुर है, कुरामनपुर और रघुनाथपुर है—
कुछ टापे बाद फिर दसियांव और केसठ है—
कोचस और कोआथ और दावथ है—
और ऊपर चढ़ने पर रोहतास और उसकी घाटियाँ है ।
और जो जल रहा है, यह अंधेरा कहता है,
सिर्फ मेरा ही गाँव नहीं है ।
और न ही जो मैं हूँ, अपने गाँव के लिए सुलगता हुआ,
सिर्फ मैं हूँ—
मरा वह 'मैं' कहीं लालमोहर है, तो कहीं कैलाश है,
कहीं देवला, और कहीं गभीरा और पता नहीं और/भी कौन-कौन है ।
और उस हर जितना हक मेरी माँ का है उतना ही
जमींदरवा बो का है, जिरवा का है,
बलिया और रतना और तेनिया और रामगहना का है—
कुरबान मियाँ और हुसेन मियाँ का है ।
मैं धूप और धुवां और आग और कीचड़ में हूँ,
मगर अपने गांव के साथ हूँ,
और यह अँधेरा जो बिल्कुल एक अलग किस्म का है
मरा दुश्मन नहीं, अभी रहबर है—
सूरज को मुक्त कर लेने तक मुझे इसका पीछा नहीं छोड़ना है ।